“स्त्री-मुक्ति का दस्तावेज़:थेरीगाथा”

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम.फिल.(हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

2016

शोधार्थी

कृष्ण कुमार यादव

हिन्दी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

“STREE-MUKTI KA DASTAVEZ:THEREEGATHA”

A dissertation submitted during Year 2016 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a **M.Phil. Degree** in Department of Hindi, School of Humanities.

By

KRISHNA KUMAR YADAV

2016

DEPARTMENT OF HINDI, SCHOOL OF HUMANITIES

UNIVERSITY OF HYDERABAD

(P.O.) CENTRAL UNIVERSITY, GACHIBOWLI

HYDERABAD – 500 046

INDIA

DECLARATION

I, KRISHNA KUMAR YADAV hereby declare that this Dissertation entitled **"STREE-MUKTI KA DASTAVEZ:THEREEGATHA" (स्त्री-मुक्ति का दस्तावेज़ :थेरीगाथा)** submitted by me under the guidance and supervision of **PROF GARIMA SRIVASTAVA** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in Shodganga/INFLIBNET.

Date :30/06/2016

Name :KRISHNA KUMAR YADAV

Signature of the Student :

Regd.No. 15HHHL02

अनुक्रमणिका

भूमिका **3-7**

प्रथम अध्याय : पालि साहित्य की पृष्ठभूमि : बौद्धकालीन सामाजिक सांस्कृतिक जीवन **8-36**

बौद्धकालीन पालि भाषा और उसका क्षेत्र
पालि साहित्य की पृष्ठभूमि
कृषि एवं पशुपालन
नगरीय एवं ग्रामीण जीवन
व्यवसाय और वाणिज्य

द्वितीय अध्याय : संघ, स्त्री शिक्षा और प्रव्रज्या **37-61**

पूर्व बौद्धकाल एवं बौद्धकालीन स्त्री जीवन
भिक्षुणी संघ एवं उसके नियम
प्रव्रज्या
पूर्व बौद्धकाल एवं बौद्धकालीन स्त्री शिक्षा

तृतीय अध्याय : थेरगाथाएं और थेरीगाथाएं : कथ्य एवं संवेदनागत; अंतर /वैशिष्ट्य **62-105**

भिक्षुओं का आधिभौतिक जीवन एवं थेरगाथा
भिक्षुओं का जाति के सम्बन्ध में मत
भिक्षुओं का आध्यात्मिक जीवन
भिक्षु साधना में उद्दीपक प्रकृति
बौद्धकालीन थेरियाँ और प्रव्रज्या के कारण
स्त्री मुक्ति का प्रश्न और थेरीगाथा
थेरीगाथा में प्रकृति वर्णन
थेरगाथा-थेरीगाथा के विचार एवं काव्यगत सौन्दर्य विषयक विशेषताएँ

चतुर्थ अध्याय : थेरीगाथाओं के पुनर्पाठ की जरूरत **106-119**

परिवार, समाज और बौद्धकालीन स्त्री
बौद्ध संघ और स्त्रियों की संवैधानिक स्थिति

पितृसत्ता और थेरियों की स्थिति
धर्म की आड़ में पितृसत्ता की भूमिका और थेरियों के रचनात्मक प्रत्युत्तर
उपसंहार **120-122**
आधार एवं सहायक ग्रंथ सूची **123-124**

भूमिका

बौद्ध धर्म का उद्भव छठी शताब्दी ई.पू. की महत्वपूर्ण घटना थी, जिसने न केवल तद्युगीन धर्मों को प्रभावित किया, बल्कि अपने समय के चिंतन-मनन और विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे सर्जनात्मक परिवर्तनों को भी प्रोत्साहित किया। सत्य, करुणा, मैत्री, समता, अहिंसा, बंधुता और मानवता के पक्षधर गौतम बुद्ध सम्यक सम्बोधि प्राप्त कर सांसारिक दुःखों से द्रवित होकर करुणा प्रसूत वेदना के कारण लोगों को भवबाधा से निस्तारण हेतु जनभाषा पालि में, मध्यममार्गी सद्धर्म के उपदेश का संकल्प लेते हैं। जाति-वर्ग विहीन भिक्षु संघ की स्थापना करते हैं । भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए जीवनोपयोगी न्यूनतम आवश्यक अपरिहार्य वस्तुओं के रूप में चतुर्निश्रय विधान बनाते हैं और सद्धर्म के प्रचार-प्रसार तथा जन-जागरण का उन्हें निर्देश देते हैं।

गौतम बुद्ध व्यक्ति स्वातंत्र्य के पक्षधर हैं। वे तर्क-बुद्धि के आधार पर निर्णय लेने की बात कहते हैं-

तापच्छवाच निकर्षात सुवर्ण मिव पण्डिताः ।

परीक्ष्य भिक्षवो गाह्यं भद्धत्तो न तु गौरवात ॥

(जैसे सुवर्णकार सुवर्ण की परीक्षा उसे अग्नि में डालकर तथा छेदकर करता है वैसे ही हे भिक्षुओं ! मेरे कहने की परीक्षा तुम अपनी स्वतंत्र बुद्धि की कसौटी पर करो। मैं कहता हूँ इसलिए मेरा कहना मत मानो।)

इसी तर्क बुद्धि एवं प्राणिमात्र की कल्याण भावना का परिणाम था कि जिस महाप्रजापति गौतमी को बुद्ध ने बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से तीन बार मना कर दिया था उन्हें आनंद की मध्यस्थता के बाद 500

स्त्रियों के साथ बौद्ध धर्म में स्थान दिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म दुनिया का पहला धर्म बना जिसने स्त्री को पुरुष के समकक्ष दर्जा देने की कोशिश की और स्त्री मुक्ति की बात कही।

मानव सभ्यता के आरंभिक समय से स्त्री-पुरुष के साथ सहअस्तित्व में रही क्योंकि यह दोनों की जैविक आवश्यकता थी। साहचर्य जीवन व्यतीत करते हुए स्त्री कब और कैसे सामाजिक रूप से सहायक की भूमिका में चली गयी जहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी उपस्थिति और काम गौण होता गया इसे जानने के लिए हमें पितृसत्ता के उद्भव और जड़ जमाने की प्रक्रिया को गहराई से समझना होगा।

प्राचीन साहित्यिक स्रोतों से हमें स्त्री की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में आने वाले उतार-चढ़ाव की जानकारी मिलती है। अध्ययन के लिए उपलब्ध साहित्यिक कृतियों में से अधिकांश पुरुषों द्वारा लिखी गयी हैं। अतः अपने समय-समाज के विषय में स्वयं स्त्री क्या सोच रही थी, उसकी धारणा क्या थी? प्रमाणिक तौर पर यह कह पाना बेहद मुश्किल है। बौद्ध साहित्य के त्रिपिटक (विनय पिटक, सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक) निकाय ग्रंथों में थेरीगाथा, सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय के पंद्रह ग्रन्थ समूहों में क्रम संख्या नौ पर है। थेरीगाथा में 73 भिक्षुणियों के 522 पद्य गाथाएं सन्निहित हैं। थेरीगाथा की भिक्षुणियाँ तत्कालीन समाज के अधिकांश वर्गों से आयी हैं, इसलिए सभी का दुःख एक जैसा नहीं है। पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था से सभी पीड़ित हैं परन्तु सभी का जीवनानुभव एक सा नहीं है। इसलिए प्रत्येक गाथा में स्त्री के अलग-अलग शोषित पीड़ित रूपों की अभिव्यक्ति हुयी है। अब प्रश्न यह है कि थेरीगाथा पर शोध की आवश्यकता किन-किन कारणों से जरूरी है ? इसका उत्तर यह है कि जब भी स्त्री-मुक्ति की बात होती है हम पश्चिम की ओर देखते हैं। क्या हमारे यहाँ भी स्त्री-मुक्ति की बात की गयी थी ? यदि हाँ तो उसका स्वरूप क्या था ? किन परिस्थितियों में वह व्यक्त हुयी ? थेरीगाथा में स्त्री सम्बन्धी किन-किन विषयों का वर्णन है और आज के समाज में उसकी व्याप्ति कैसी है ? यह जानने के साथ ही थेरीगाथा कृति के सर्जनात्मक सौन्दर्य (संवेदना और शिल्प) को रेखांकित करना और इन गाथाओं के

माध्यम से बौद्धकालीन समाज, स्त्री-जीवन एवं भिक्षुणी संघ का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य है।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध को भारतीय और वैश्विक सन्दर्भों में स्त्री मुक्ति और स्वतंत्रता के आदि आधारों की खोज और विश्लेषण के एक प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए। आधुनिक स्त्री मुक्ति एवं मानव से मानव की समानता की राजनैतिक और सामाजिक माँगों को ऐतिहासिक परिदृश्य में विश्लेषित करने की आवश्यकता बड़ी शिद्दत से इस कार्य को करने के दौरान मुझे अनुभव हुई। साथ ही यह भी की इतिहास लेखन पर पुरुष रचनाकारों और इतिहासकारों के कड़े पहरे के भीतर सेंध लगाकर यह देखना कि स्त्री मुक्ति की अवधारणा और रचनात्मकता के अविच्छिन्न तार कहाँ से सम्बद्ध हैं, यह भी कि बिना अपनी जड़ों की ओर लौटे, वर्तमान को सही परिप्रेक्ष्य में आँका जाना असम्भव और अपूर्ण है। सम्पूर्णता की खोज की इच्छा ही प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध और विषय चुनाव का प्रेरक बिंदु है। जहाँ से देखने पर इस क्षेत्र में शोध और विश्लेषण की कई दिशाएँ और संभावनाएं दीखती हैं। समय सीमा की बाध्यता ने मुझे शोध में पैठने का अवसर कम दिया जिसकी पूर्ति भविष्य में हो पायेगी, ऐसी अपेक्षा मुझे है। ऐसा लगता है कि अभी उन 73 थेरियों की सम्पूर्ण रचनात्मकता के साथ न्याय कर पाना बाकी है। पिछले कई महीनों ये थेरियां सोते जागते, उठते-बैठते अपनी पीड़ा, करुणा और आनंद की कविताएँ लिए मेरे साथ थीं, उनका सही मूल्यांकन-विश्लेषण कर सकूं तभी उनके दाय से मुक्त हो पाउँगा।

शोध-प्रविधि :-

इस लघु शोध-प्रबंध के विषयानुरूप ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन पद्धतियों का प्रयोग किया गया है । ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक पद्धति के अंतर्गत मैंने बौद्धकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का स्वरूप, बौद्धकाल से पूर्व एवं बौद्धकालीन स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण किया है। तुलनात्मक पद्धति के अंतर्गत थेरीगाथा और थेरगाथा के बीच

कथ्य एवं संवेदनागत : अन्तर/वैशिष्ट्य को दिखाया है साथ ही थेरीगाथा का आधुनिक स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में मूल्यांकन किया है। थेरीगाथा के पाठ, संवेदना, शिल्प एवं भाषा का आलोचनात्मक पद्धति के अंतर्गत अध्ययन किया गया है। थेरीगाथा की विशेषता यह है कि इसका अध्ययन करते हुए ऐतिहासिक तुलनात्मक और आलोचनात्मक पद्धतियों का समंजन इतने ठीक ढंग से होता है कि कई बार ऐसा लगता है हम इन्हें अलगा नहीं सकते हैं।

लघु शोध-प्रबंध का विन्यास :-

शोध कार्य की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध को चार अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में पालि साहित्य की पृष्ठभूमि और बौद्धकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में बौद्धकालीन भिक्षुणी संघ के स्वरूप, उसके नियम-विधान, स्त्रियों की संघ में स्थिति, प्रव्रज्या लेने के कारण एवं प्रव्रजित स्त्री-जीवन का विश्लेषण ऐतिहासिकता के आलोक में किया गया है। साथ ही बौद्धकाल तथा बौद्धकाल से पूर्व यानी वैदिक, उत्तर-वैदिक कालीन स्त्री-शिक्षा की स्थिति पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय में थेरगाथा और थेरीगाथा के कथ्य एवं संवेदनागत: अन्तर/वैशिष्ट्य की पड़ताल करने का प्रयास किया गया है, जिसके अनंतर पुरुष एवं स्त्री भिक्षु की रचनात्मक संवेदना के मौलिक अन्तराल का विश्लेषण किया गया है। इसके लिए तुलनात्मक विश्लेष्णात्मक पद्धति का सहारा लिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में धर्म और पितृसत्ता के परिप्रेक्ष्य में स्त्री स्वाधीनता और थेरीगाथाकारों की रचनात्मकता के आंतरिक स्वरों की पहचान का प्रयास किया गया है।

यहाँ पर अपनी शोध निर्देशक प्रो. गरिमा श्रीवास्तव के प्रति आभार व्यक्त करना मात्र औपचारिकता एवं उनके द्वारा प्रदत्त सहयोग का न्यूनीकरण होगा। मैडम के हैदराबाद विश्वविद्यालय से जे. एन. यू. चले जाने के बाद भी मैंने उनके सहयोग एवं निर्देश में कोई कमी नहीं महसूस की। यथार्थतः प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध उनके सतर्क पर्यवेक्षण का सुफल रहा है।

हैदराबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो.आर.एस. सर्राजू एवं अपने सहायक निर्देशक एस.चतुर्वेदी के प्रति, जिनके सहयोग एवं प्रोत्साहन के द्वारा यह कार्य संभव हो सका, अपना आभार प्रकट करता हूँ।

उन मित्रों और पुस्तकालयों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत कार्य में मेरी मदद अत्यंत उत्साह से की ।

प्रथम अध्याय

पालि साहित्य की पृष्ठभूमि : बौद्धकालीन सामाजिक सांस्कृतिक जीवन

बौद्धकालीन पालि भाषा एवं उसका क्षेत्र :-

"पालि भाषा का प्रादुर्भाव यद्यपि भगवान बुद्ध से लगभग तीन सौ वर्ष पहले हो चुका था"[1] परन्तु उसके प्रारम्भिक साहित्य का पता नहीं लगता। प्रत्येक भाषा का अपना साहित्य प्रारम्भिक अवस्था में कथा, गीत, पहेली आदि के रूप में रहता है और उसकी रूपरेखा तब तक लोगों की जिह्वा पर विद्यमान रहती है, जबतक कि वह लेखबद्ध हो, ग्रन्थारूढ़ न हो जाय।

प्रारम्भ से लेकर लगभग तीन सौ वर्षों तक पालि भाषा जन साधारण के बोलचाल की भाषा के रूप में चली आ रही थी किन्तु जिस समय भगवान बुद्ध ने इसे अपने उपदेश के लिए चुना और इसी में उपदेश देना शुरू किया, तब थोड़े ही दिनों में यह शिक्षित समुदाय की भाषा होने के साथ राजभाषा भी बन गई।

"भगवान बुद्ध की उत्पत्ति के समय सम्पूर्ण उत्तर भारत में पालि भाषा ही जन समुदाय की भाषा थी और यही भगवान बुद्ध तथा अन्य तत्कालीन गणचार्यों की भाषा थी।"[2] इसलिए उन सभी आचार्यों ने पालि भाषा में ही प्रवचन-उपदेश दिये। जाहिर सी बात है यही भाषा उस समय बहुजन समुदाय के बोलचाल की भाषा रही होगी। अब छान्दस का युग समाप्त हो गया था।

---

[1] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 6

[2] वही, पृ.6

"उस समय मध्यदेश (= मज्झिमदेक्ष) तीन मण्डलों में बँटा हुआ था- महामण्डल, मध्यमण्डल और अन्तोमण्डल। इनका विस्तार क्रमशः 900, 600 और 300 योजन था।"[3] मध्यदेश उत्तर में हिमालय की तलहटी में स्थित प्रदेशों से लेकर दक्षिण में विन्ध्य तक और पूरब में वर्तमान सिलई (= सललवती) नदी से लेकर पश्चिम में दिल्ली थानेश्वर के आसपास के प्रदेशों तक अर्थात् हरियाणा राज्य तक फैला हुआ था। विनयपिटक में इसकी चतुर्दिक सीमा इस प्रकार वर्णित है -

"पूर्व दिशा में कजंगल नामक निगम (= कस्बा) है, उसके बाद महाशाल हैं उससे आगे प्रत्यन्त जनपद है। पूर्व दक्षिण दिशा में सललवती नदी है उससे आगे प्रत्यन्त जनपद है। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक निगम है, उससे आगे प्रत्यन्त जनपद है, पश्चिम दिशा में थूण (=स्थूण) नामक ब्राह्मण ग्राम है उससे आगे प्रत्यन्त जनपद है। उत्तर दिशा में उशीरध्वज पर्वत है, उससे आगे प्रत्यन्त जनपद है।"[4]

"दिव्यावदान पूर्व में पुण्ड्रवर्द्धन नगर, दक्षिण में शरावती नगरी, पश्चिम में स्थूण-उपस्थूण, ब्राह्मण ग्राम और उत्तर में उशीरमिरि मध्यदेश की सीमा पर स्थित बतलाये गये हैं। इसमें शरावती, उशीरगिरि और स्थूण पालि के ही सललवती, उशीरध्वज और यूण संस्कृत रूप हैं, केवल कजंगल के स्थान पर बंगाल का पुण्ड्रवर्द्धन नगर ही भिन्न है जो पीछे मध्यदेश की सीमा के रूप में स्वीकार किया गया जान पड़ता है क्योंकि भगवान बुद्ध अपने जीवन काल में कजंगल निगम से आगे नहीं बढ़े थे। हम उन्हें कजंगल के मुखोलुवन में विहार करते और उपदेश देते पाते हैं।"[5]

---

[3] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 7

[4] वही, पृ. 7

[5] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 7

भगवान बुद्ध ने इसी मध्यदेश में घूम-घूम कर उपदेश दिया था। भारत के विभिन्न प्रान्तों से लोग उनके उपदेश से प्रभावित होकर प्रव्रजित होने के लिए आते थे। विभिन्न प्रान्तों के व्यक्तियों के आने से उनकी बोली का प्रभाव पालि भाषा पर पड़ने लगा।

उस समय कुछ ब्राह्मण जाति से प्रव्रजित हुए भिक्षुओं को यह बात ठीक नहीं लगती थी कि विभिन्न बोलियों का बुद्ध वचन (यानी पालि भाषा) पर प्रभाव हो। वे बुद्धवचन को परिशुद्ध रखना चाहते थे। वे बुद्धधर्म के सूत्र को वैदिक भाषा में चाहते थे ताकि उनका स्वाध्याय ब्राह्मणों की भाँति करें।

एक दिन उनमें यमेड़ और तेकुल नामक भिक्षु भगवान के पास गये और प्रणाम करके उन्होंने कहा – "एतरहि भन्ते ! भिक्खू नानानाम, नानागोत्ता नानाजन्ना, नाताकुला पब्बजिता, ते संकाय निरुत्तिया बहुवचनं दूसेत्ति। हन्द मयं भत्ते। बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमा 'ति।"[6]

भन्ते ! इस समय नाना नाम, गोत्र, जाति और कुल से प्रव्रजित भिक्षु हैं। वे अपनी भाषा (= सकाय निरुक्ति) में बुद्धवचन को (कहकर) दूषित करते हैं। अच्छा हो भन्ते हम बुद्धवचन को (कहकर) छान्दस में कर दें।

भगवान को यह बात पसन्द न आई। उन्होंने उनको फटकारा और कहा- "यह उचित नहीं कि धर्म सूत्रों के पाठ वैदिक भाषा में हों, यह न तो श्रद्धारहित लोगों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए ही होगा और न श्रद्धावानों की श्रद्धा को बढ़ाने के लिए ही। भिक्षुओं ! मैं तुम्हें अनुमति देता हूँ, अपनी भाषा (= सकाय निरुक्ति) में बुद्ध वचन सीखने की।'[7]'

[6] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.7
[7] वही, पृ. 7

भाषा के सम्बन्ध में बुद्ध का यह विचार तत्कालीन समाज में कितना क्रान्तिकारी रहा होगा जहाँ इससे पहले धर्म-उपासना और भगवत्भक्ति के लिए छान्दस भाषा (संस्कृत वैदिक भाषा) ही इस्तेमाल में लायी जाती थी। संस्कृत भाषा के ज्ञान के अभाव में व्यक्ति धर्मोपासना में प्रवृत्त नहीं हो सकता था। चूँकि संस्कृत सीखने का अधिकार (यानी विद्या पाने का अधिकार) समाज में उच्च तबके के पास था। अतः वही धर्मोपासना भी कर सकता था। भगवान बुद्ध ने छठी शताब्दी ई0पू0 में भाषा के बन्धन को समाप्त करके ऐतिहासिक कदम उठाया, जिसने सामान्य जन के लिए धर्म के द्वार खोले। बौद्ध धर्म अपने बाद के दिनों में जाति के बन्धन को भी अस्वीकार करते हुए सभी वर्णों के लिए बौद्ध धर्म का द्वार खोल देता है जिसकी चरम परिणति भक्ति आन्दोलन में दिखाई देती है। लिंग, जाति, भाषा, क्षेत्र का बौद्ध धर्म में बाद के दिनों में कोई भेद-बन्धन नहीं रह गया था। इससे यह ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध भारत के प्रथम क्रान्तिकारी प्रगतिशील, वैज्ञानिक, धार्मिक नेता थे।

पालि भाषा के विकास पर चर्चा करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वह कहाँ की भाषा थी ? इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत उल्लेखनीय है-

आचार्य बुद्धघोष का कथन है कि "पालि मगध की भाषा थी इसलिए उसकी प्रकृति मागधी भाषा है।"[8]

प्रोफेसर रायस डेविड्स- "पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश में छठीं और सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व में बोली जाने वाली भाषा थी। कारण कि- (1) भगवान बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे। (2) भगवान

[8] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 22

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।"[9]

बैस्टरगार्ड और ई0 कुन्है- "पालि उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी। कारण- (1) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है। (2) कुमार महेन्द्र जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और पालि त्रिपिटक को वहाँ पहुँचाया की मातृभाषा यही थी।"[10]

स्टैन कोनो और आर0ओ0 फ्रैंक के विचार में "पालि भाषा विन्ध्य प्रदेश की भाषा थी, क्योंकि गिरनार-शिलालेख से उसका बहुत साम्य है, साथ ही पैशाची से भी उसका निकट का सम्बन्ध जान पड़ता है और पैशाची विंध्यप्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी।"[11] फ्रैंक ने बल देकर कहा है कि पालि भाषा विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी भाग के प्रदेश की भाषा थी।

डॉ0 ओल्डनबर्ग और ई0 मुलर का मत है कि पालि भाषा का उद्‌गम स्थान कलिंग है। इन दोनों विद्वानों ने कहा है कि "कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य होता रहा। कलिंग के ही लोगों ने जाकर लंका को आबाद किया था और खंडगिरि के शिलालेख से पालि का अधिक साम्य है।" [12]

उपरोक्त मतों से ज्ञात होता है कि इन विद्वानों ने पालि भाषा के उद्‌गम स्थान पर विचार करते हुए एकांगी दृष्टिकोण को अपनाया है और इस सन्दर्भ में एकांगिता का परिचय दिया है।

---

[9] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 40

[10] वही, पृ.40

[11] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 23

[12] वही, पृ. 23

भगवान बुद्ध शाक्य जनपद की राजधानी कपिलवस्तु के रहने वाले थे, जो कोसल जनपद के अन्तर्गत एक लघु गणतंत्र था। वहाँ की भाषा में भगवान बुद्ध ने उपदेश दिया किन्तु भगवान बुद्ध भाषा सम्बन्धी दुराग्रह के विरोधी थे यह बात पहले उद्धरण के माध्यम से स्पष्ट की जा चुकी है। गौतम बुद्ध ने पूरे मध्य देश का भ्रमण कर उपदेश दिया। गौतम बुद्ध ने जिस भाषा का प्रयोग किया उसे बिहार की पूर्वी सीमा (कजंगल) से लेकर कुरु देश (दिल्ली थानेश्वर) तक मथुरा, उशीरध्वज से लेकर विन्ध्य पर्वतमाला तक लोग समझते थे। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के एक मास बाद ही उनके उपदेशों को संग्रहित करने की आवश्यकता मालूम पड़ी उसके बाद बुद्धवचन को त्रिपिटक के रूप में संकलित किया गया। इससे ज्ञात होता है पालि भाषा सम्पूर्ण मध्य देश की भाषा थी। पालि पर उस समय के 16 महाजनपदों कोसल, मगध, काशी, पांचाल, कुरु, वत्स, सूरसेन, शाक्य, कोलिय, मल्ल, वज्जी, विदेह, अंग, गांधार, अश्मक, अवत्ति मत्स्य एवं गणों की प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

"अनेक विद्वानों ने विन्ध्य उज्जयिनी आदि को पालि का उद्‌गम स्थान माना है, वह समुचित नहीं है। ऐसे ही कलिंग को मानना भी। इन प्रदेशों में भगवान बुद्ध गये भी नहीं थे। महेन्द्र का उज्जैन से लंका जाना या कलिंग से लंका के धर्मप्रचार का सम्बन्ध होना पालि भाषा के उद्‌गम स्थान से कोई तात्पर्य नहीं रखता। इन कालों से पूर्व ही पालि का उद्‌भव हो चुका था और उसके ग्रन्थरत्न तथा अनेक महत्वपूर्ण लेखांकित विधियाँ स्तूपों में निहित थीं तथा स्तम्भों, शिलाओं, गुहाओं आदि के ऊपर उनके नाम अंकित हो चुके थे।"[13]

पालि साहित्य पृष्ठभूमि:-वेदकालीन लोकभाषा विकसित होते-होते छठी-सातवीं ई0पू0 में उस रूप तक जा पहुँची जिसे 'प्राचीन पालि' कहा जाता है। गौतम बुद्ध के वचनों का संग्रह ही

[13] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 24

पालि साहित्य का आधार है। जिस दिन गौतम बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया उस बीच उन्होंने जो उपदेश दिये उन्हें त्रिपिटक (तीन पिटारियाँ) में संग्रहित करने का प्रयास किया गया। गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् जब यह समाचार 'पावा' से कुशीनारा आते हुए महाकाश्यप स्थविर को मिला, तब उनके साथ आते हुए पाँच सौ भिक्षुओं में से सुभद्र नामक एक नये प्रव्रजित हुए वृद्ध भिक्षु ने कहा-

"बस आयुष्मानो! मत शोक करो! मत विलाप करो! हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त हो गये। वह हमें सदा ही यह कहकर पीड़ित किया करता था 'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे, जो नहीं चाहेंगे सो नहीं करेंगे।"[14]

सुभद्र जैसे भिक्षुओं के असंय को देखकर आर्य महाकश्यप की मानसिक व्यथा के दर्शन हम उनके शब्दों में करते हैं- "आयुष्मानो। आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रहा है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अ-विनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो। हम धम्म और विनय का संगायन करें।"[15] इसके लिए एक सभा का आयोजन किया गया।

प्रथम संङ्गीति :

"यह सभा बुद्ध-परिनिर्वाण के तीसरे मास (श्रावण) के समाप्त होने और चौथे मास (भाद्रपद) के आरम्भ होने पर हुई। बुद्ध-परिनिर्वाण वैशाख पूर्णिमा को हुआ था, अतः यह सभा सम्भवतः भाद्रपद मास के आरम्भ में हुई। श्रावण का मास तैयारी में लगा। राजगृह में वैभार गिरि के उत्तरी पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी के द्वार पर निर्मित एक मण्डल में इस सभा की

[14] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 114
[15] वही, पृ.115

कार्यवाही चली । इस सभा में 500 अर्हत भिक्षु सम्मिलित हुए अतः बौद्ध जनश्रुति में यह पंचशतिका नाम से विख्यात है ।"[16]

भगवान बुद्ध ने जो उपदेश दिया था उसे भिक्षुओं ने जिस प्रकार सुना था उसी प्रकार याद रखने का प्रयत्न किया । भिक्षुओं ने बुद्ध वचन को स्वाध्याय से विस्मृत नहीं होने दिया था ।"...आनन्द जैसे स्थविरों को सारा धम्म कंठस्य था और उपालि जैसे स्थविरों को सारा विनय ।"[17] "इसे संग्रहित करने के लिए प्रथम संङ्गीति का आयोजन हुआ जो सात मास तक चली । प्रथम संङ्गीति में पालि साहित्य का प्रथम बार एकीकरण हुआ जिसमें चौरासी हजार ही धर्म स्कन्धों का संग्रह हुआ था ।"[18] इन्हें विषय अनुसार तीन पिटकों में बाँटा गया ।

1. सुत्त पिटक
2. विनय पिटक
3. अभिधम्म पिटक

द्वितीय संङ्गीति :

"भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के 100 वर्ष बाद (वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति-विनय-पिटक चुल्लवग्ग) किन्तु यूआन चुआङ् द्वारा निर्ष्टित परम्परा के अनुसार 110 वर्ष बाद वैशाली के वालुकाराम (वालिकराम) में 'धम्म' और 'विनय' का जैसा कि वह प्रथम संगीति में संग्रहीत किया गया था, पुनः संगायन किया गया । यह बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति थी जिसमें 700 भिक्षुओं ने भाग लिया । इसीलिए यह सप्तराटिका भी कहलाती थी ।"[19] यह सभा

[16] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 116
[17] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 31
[18] वही, पृ.32
[19] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.122

वास्तव में विनय-सम्बन्धी कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के लिए बुलायी गयी थी। इस संगीति के रेवत महास्थविर प्रधान थे। यह सङ्गीति आठ मास में समाप्त हुई थी।

तृतीय सङ्गीति :

"वैशाली की संगीति के बाद एक तीसरी संगीति सम्राट अशोक के समय में उस राजा के राज्याभिषेक के सत्रहवें वर्ष में बुद्ध परिनिर्वाण के 235वें वर्ष में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में हुई। कालाशोक के समय से अशोक के समय तक भारतीय भिक्षुसंघ अठारह निकायों में बंट गया था जिनमें से स्थाविरवादी भिक्षु निकाय के 12 और महासांधिक के 6 निकाय थे। इस सङ्गीति के महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स प्रधान थे। यह एक हजार भिक्षुओं द्वारा 9 मास में समाप्त की गई थी। इस संगीति के समय स्थविरवाद के विरूद्ध होने वाले सभी निकायों के कुल आठ हजार भिक्षु संघ से बहिष्कृत हुए थे।"[20] इसी समय मोग्गलिपुत्त तिस्स ने मिथ्यावादी 17 बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए कथावत्थु नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे अभिधम्म पिटक में स्थान मिला। इस सभा के परिणामस्वरूप एक महत्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बुद्ध धर्म के प्रचार करने के लिए उपदेशकों को भेजने का भी किया गया।

चतुर्थ सङ्गीति :

"लंका के राजा वट्गामणि अभय (29-17 ई0पू0) के समय में प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व में, बुद्ध परिनिर्वाण के 433 वर्ष बाद एक और चौथी धर्म-संगीति हुई और जिस तिपिटक को स्थविर महामहेन्द्र और उसके साथ भिक्षु अशोक और देवानंपिय तिस्स के समय में लंका ले गये थे उसे ताड़पत्रों पर लेखबद्ध कर दिया गया। वट्टगामणि अभय के समय में जिस

[20] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.125

त्रिपिटक को लेखबद्ध किया गया वह वही था जिसे पाटलिपुत्र की संगीति में अन्तिम रूप से सुनिश्चित किया जा चुका था और जिसे ही स्थविर महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहाँ ले गये थे।"[21]

अभी तक बुद्ध के परिनिर्वाण काल से लेकर पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व तक पालि-साहित्य के विकास का स्वरूप हमने देखा अब प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व तक सुनिश्चित हो चुके लिखित त्रिपिटक के बारे में विचार करेंगे।

पालि त्रिपिटक कहाँ तक मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचन है इसके निर्धारण में सबसे बड़ी कठिनाई यह कि बुद्ध धर्म के विकास की प्रथम शताब्दी में ही उसके अनेक विभाग हो गये थे। अशोक के काल तक ही कम से कम 18 सम्प्रदायों का उल्लेख है। इन सभी सम्प्रदायों के अपने-अपने साहित्य थे जिन्हें वे प्रामाणिक बुद्ध-वचन मानते थे। पालित्रिपिटक इन्हीं प्राचीन सम्प्रदायों में से एक (स्थविरवाद-थेरवाद) की मूल साहित्यिक निधि है।

...पालि त्रिपिटक में निहित बुद्ध-वचन और उनकी अट्ठकथाएँ इतना ही स्थविरवाद बौद्ध धर्म का साहित्यिक आधार है-

"तिपिटकं संगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादं"[22] ति। अन्य सम्प्रदाय का बहुत साहित्य लुप्त हो गया। जिन सम्प्रदायों के त्रिपिटक-साहित्य का इस प्रकार कुछ परिचय मिलता है, उनमें सर्वास्तिवादी मुख्य हैं। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था जिसका आविर्भाव अशोक के समय से पहले ही हो चुका था। पालि त्रिपिटक से इन सर्वास्तिवादी ग्रन्थों की तुलना की गयी है, जिसके परिणामस्वरूप इन दोनों विषय के सम्बन्ध में मूलभूत समानताएँ पायी गयी हैं केवल विषय विन्यास में कहीं कुछ थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता था। यह बात सुत्त और

[21] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.131
[22] वही, पृ.158

विनय पिटक के सम्बन्ध में सर्वांश में सत्य है, किन्तु अभिधम्म-पिटक के विषय में दोनों परम्पराओं में ग्रन्थ संख्या समान होते हुए भी उनमें से प्रत्येक की विषयवस्तु की दूसरे की विषयवस्तु के साथ कोई विशेष समता नहीं है।

त्रिपिटक के ग्रंथों का विभाजन[23]

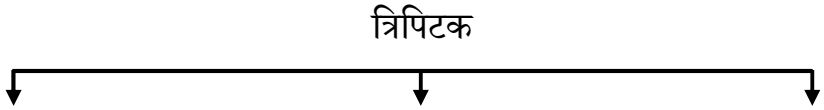

विनयपिटक	सुत्तपिटक	अभिधम्मपिटक
1. महावग्ग	1. दीघनिकाय	1. घम्मसङ्गणि
2. चुल्लवग्ग	2. मज्झिमनिकाय	2. विभङ्ग
3. पाराजिक	3. संयुक्तनिकाय	3. धातुकथा
4. पाचित्तिय	4. अङ्गुत्तरनिकाय	4. पुग्गलपञ्ञति
5. परिवार	5. खुद्दकनिकाय	5. कथावत्थु
	↓	6. यमक
	1. खुद्दकपाठ	7. पट्ठान
	2. धम्मपद	

[23] संपादक-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ. 11

3. उदान

4. इतिवुत्तक

5. सुत्तनिपात

6. विमानवत्थु

7. पेतवत्थु

8. थेरगाथा

9. थेरीगाथा

10. जातक

11. निद्देस

12. पटिमग्गसम्भिदाभग्ग

13. अपदान

14. बुद्धवंस

15. चरियापिटक

त्रिपिटक के उपर्युक्त विभाजन के आधार पर उनका संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण निम्नलिखित है-

सुत्त पिटक :

इसमें भगवान बुद्ध के धर्मोपदेश का संकलन है। बुद्ध के अतिरिक्त उनके कुछ शिष्यों के उपदेश भी सुत्त पिटक में सन्निहित हैं। इसके अधिकांश सुत्त, गद्यात्मक हैं परन्तु थोड़े से पद्य में या गद्य और पद्य दोनों में भी हैं। सुत्तों की भाषा सरल और सजीव है। सुत्त पिटक, मुख्यतः पाँच निकायों में विभक्त है प्रथम चार निकायों में सुत्तों का संग्रह तथा अंतिम निकाय में 15 छोटे-छोटे ग्रन्थों का समावेश है। साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्त पिटक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

सुत्तों की शैली की ये विशेषताएँ हैं- "(1) पुनरुक्तियों की अतिशयता, (2) संखयात्मक, परिगणन की प्रणाली का प्रयोग, (3) उपमाओं के प्रयोग की बहुलता, (4) संवादों का प्रयोग, (5) इतिहास और आख्यानों का उपदेशों के बीच में समावेश और (6) सुत्तों में नाटकीय क्रियात्मकता की अभिव्यक्ति।"[24]

(अ) दीघ निकाय :- "इसमें दीर्घ आकार के 34 सुत्तों का संग्रह है। यह तीन भागों में विभक्त हैं- सीलक्खनवग्ग, महावग्ग और पाथिकवग्ग।"[25]

(आ) मज्झिम निकाय :- मज्झिम-निकाय जैसा कि नाम से स्पष्ट है मध्य आकार वाले सुत्तों का संग्रह है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस निकाय को बुद्धवचनामृत कहा है, जो इसमें निहित बुद्ध-वचनों की सर्वविध महत्ता को देखते हुए बिल्कुल ठीक ही है।"...मज्झिम निकाय का वर्गीकरण 15 वर्षो में है जिसमें कुल मिलाकर 152 सुत्त है।"[26]

[24] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 181
[25] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 47
[26] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 210

(इ) संयुक्त निकाय:- "संयुक्त-निकाय छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संकलन है। इनके सुत्तों को पाँच वर्गो के अन्तर्गत रखा गया है। ये हैं- समाथवग्ग, निदानवग्ग, संन्धवग्ग, सलायनवग्ग, एवं महावग्ग।"[27] इस निकाय में बुद्धकालीन भारतीय ग्रामीण जीवन का बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है।

(ई) अङ्गुत्तर निकाय:- यह सुत्त पिटक का चौथा बड़ा भाग है। इसकी शैली अन्य ग्रन्थों से भिन्न हैं। इस निकाय की शैली संख्याबद्ध है। यह 11 निपातों में विभक्त हैं। प्रत्येक निपात में ऐसी संख्या से सम्बद्ध उपदेशों का संकलन है, जो संख्या उस निपात की है।

(उ) खुद्दक निकाय:- यह सुत्त पिटक का पाँचवा मुख्य भाग खुद्दक निकाय है। इसमें चारों निकायों किसी एकरूपता नहीं मिलती है। खुद्दक निकाय 15 छोटे बड़े ग्रन्थों का संग्रह है। कुछ ग्रन्थ विशुद्ध पद्यात्मक तथा कुछ गद्य पद्य मिश्रित है। काव्य आख्यान गीत से खुद्दक निकाय के विषय हैं। इन 15 ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

(क) खुद्दक पाठ:- खुद्दक पाठ के अन्तर्गत छोटे-छोटे नौ पाठो या सुत्तों का संकलन है। इनको मुख्यतः सुत्तपिटक और विनय पिटक में संकलित किया गया है। खुद्दक पाठ का संकलन प्रारम्भिक विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए अथवा बौद्ध गृहस्थों के दैनिक पाठ के लिए किया गया है।

(ख) धम्मपद:- यह पालि वाङ्मय का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसकी 423 गाथाएँ 26 वर्गो में विभक्त हैं। धम्मपद की अधिकांश गाथाएँ त्रिपिटक के अन्य ग्रन्थों से संग्रहित की गयी हैं।

---

[27] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 54

(ग) उदान:- यह भगवान बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति वाक्यों का संकलन है। इसके 80 सुत्त 8 वग्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक वग्गों में 10 सुत्त है। बुद्ध जीवन के अनेक प्रसगों के अतिरिक्त चित्त की परम शान्ति-निर्वाण, पुनर्जन्म कर्म और आचारतत्व सम्बन्धी गम्भीर उपेदश उदान में निहित हैं।

(घ) इतिवुत्तक:- इसके छोटे-छोटे 122 सुत्त चार निपातों में विभक्त हैं। इसकी शैली अंगुत्तर निकाय ऐसे मिलती है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनों में है।

(ड़) सुत्तनिपात:- भाषा और विषयवस्तु दोनों ही दृष्टियों से इसे अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है। सम्पूर्ण सुत्तनिपात पाँच वग्गों में विभाजित है। यह है उरगवग्ग, चुल्लवग्ग, महावग्ग, अट्ठकवग्ग, और पारायण वग्ग।

(च) विमानवत्थु एवं पेतवत्थु:- विमानवत्थु में विमानों या देव आवासों की कथाएँ तथा पेतवत्थु में प्रेतों की कथाएँ वर्णित हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों की विषयवस्तु एवं शैली में काफी साम्य है। विमानवत्थु सात वग्गों में तथा पेतवत्थु चार वग्गों में विभक्त है।

(छ) थेरगाथा एवं थेरीगाथा:- ये दोनों बौद्ध साहित्य के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थों में थेर एवं थेरियों के उद्‌गारों का संकलन है। थेरगाथा में प्राकृतिक वर्णनों की अधिकता है तो थेरीगाथा में भिक्षुणियों की आत्मीयता एवं यथार्थवदिता की दृष्टिगोचर होती है। "थेरगाथा में 264 भिक्षुओं के उद्‌गार हैं, जबकि थेरीगाथा में 73 भिक्षुणियों के। थेरगाथा में 1279 गथाएँ हैं जो 21 निपातों में विभक्त है। थेरीगाथा में 522 (किन्ही-किन्ही संस्करणों में 524) गाथाएँ है जो 16 नियातों में विभक्त है।"[28]

[28] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 316

(ज) जातक:- इसमें भगवान बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएँ है। जातक कथाओं की संख्या 527 है। जातक कथाओं का सम्बन्ध भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों से है। जब वे बोधिसत्व रहे थे। बोधिसत्व का अर्थ है बोधि के लिए प्रयत्नशील प्राणी।

(झ) निद्देस:- यह दो भागों में विभक्त है। चुल्लनिद्देस तथा महानिद्देस।... महानिद्देस सुत्त निपात के अट्ठक वग्ग की व्याख्या है। इसी प्रकार चुल्ल निद्देस एक प्रकार से सुत्त-नियात के ही खग्गविसाण सुत्त और पारायण वग्ग (वथ्युगाथा को छोड़कर) की व्याख्या है। परम्परा से यह धर्मसेनापति सारिपुत्र की रचना बतायी जाती है।

(ञ) पटिसम्भिदामग्ग:- "इस ग्रन्थ का विषय अर्हत् के प्रतिसंवृत्ति सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीन मुख्य भाग हैं। जिसमें से प्रत्येक में 10 परिच्छेद हैं इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शैली और विषय दोनों की दृष्टि से अभिघम्म-पिटक से अधिक है।"[29]

(ट) अपदान:- अपदान के दो भाग हैं- थेर अपदान तथा थेरी अपदान। थेर अपदान में 547 भिक्षुओं तथा थेरी अपदान में 40 भिक्षुणियों के पूर्व जन्मों का विवरण है।

(ठ) बुद्धवंश:- "28 परिच्छेदों में विभक्त एक पद्यात्मक ग्रंथ है। इसमें गौतम बुद्ध तथा उनके पूर्ववर्ती 24 बुद्धों की जीवनियों का उल्लेख है। पच्चीसवें बुद्ध गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में 25 गाथाएँ है। जिनका उच्चारण बुद्धवंश की अट्ठकथा (मधुरत्थविलासिनी) के अनुसार स्वयं भगवान बुद्ध ने बोधिप्राप्ति के बाद कपिलवस्तु में आने पर किया था।"[30]

---

[29] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 379

[30] वही, पृ.382

(ड़) चरियापिटक:- चरियापिटक में भगवान बुद्ध के पूर्वजन्मों की चर्चाओं का वर्णन हैं जिसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान ने नाना पारमिताओं को पूरा किया था। "इस पारमिताओं में से केवल 7 का उल्लेख है- यथा दान, शील, नैष्कर्म्य, अधिष्ठान, सत्य, शैली, मैत्री और उपेक्षा।"[31]

2. विनय पिटक :- इसे बौद्ध संघ का संविधान या आचार संहिता कहा जा सकता है। इसमें भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के आचारण को शुद्ध रखने के लिए नियम एवं उसकी व्याख्या का संकलन किया गया हैं यह निम्न लिखित भागों में विभक्त है।

(अ) सुत्त विभङ्ग:- इसके दो भाग हैं - पराजिक और पाचित्तिय। पाराजिक नामक भाग में भिक्खु पातिमोक्ख के पाराजिक विभाग को लेकर निस्सग्गियपाचित्तिय विभाग के शिक्षापदों की व्याख्या आती है जबकि पाचित्तिय नामक भाग में भिक्खुपाति मोक्ख के पाचित्तिय विभाग से लेकर शेष सभी विभागों तथा भिक्खुनीपातिमोक्ख के सम्पूर्ण शिक्षापदों की व्याख्या सम्मिलित है।

(आ) खन्धक:- इसके भी दी भाग हैं - महावग्ग तथा चुल्लवग्ग। महावग्ग में भगवान बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर धर्म चक्र प्रवर्तन तक इतिहास उपसम्पदा की विधि प्रतिमोक्ष, प्रवारणा, वर्षावास के नियम चीवर रंगने की विधि आदि विषयों का वर्णन है। चुल्लवग्ग में अपराधी भिक्षुओं के प्रति सात प्रकार की कार्यवाहियों दैनिक जीवन में भिक्षुओं के विहित एवं अविहित कर्मों का विवरण आदि विषयों का विवेचन है।

(इ) परिवार:- इसमें विनय पिटक के विषयों की पुनरावृत्ति की गई है।

---

[31] भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.100

3. अभिधम्म पिटक :- इसमें सुत्त पिटक में निहित भगवान बुद्ध के मंतव्यों की तात्त्विक विवेचना है। यहाँ उनका विभिन्न प्रकार से विश्लेषण और वर्गीकरण किया गया है। अभिधम्म पिटक के अन्तर्गत सात ग्रन्थ आते हैं। इनका संक्षिप्त वितरण इस प्रकार है-

(अ) धम्मसङ्गणि:- यह अभिधम्म पिटक का प्रमुख एवं मूलभूत ग्रन्थ है। "कामावचर रूपावचर इत्यादि के रूप में धर्मों की संगणना और संक्षिप्त विवेचन के कारण इस ग्रन्थ का नाम धम्म सङ्गणि पड़ा है। इसकी विषय वस्तु चार काण्डों में विभक्त है। चित्तुपादकण्ड, रूपकण्ड, निक्खपकण्ड और अत्युद्धारकण्ड।"[32]

(आ) विभङ्ग:- इस ग्रन्थ में धम्मसङ्णि के बृहद् विश्लेषण को वर्गबद्ध किया गया है। इसकी विषयवस्तु 18 विभङ्गों में विभक्त है।

(इ) धातुकथा:- विभङ्ग के 18 प्रकरणों में से प्रथम तीन अर्थात् स्कन्ध आयतन और धातु का विशेष अध्ययन धातुकथा में किया गया है। इसमें 14 अध्याय हैं।

(ई) पुग्गलपञ्ञति:- पुग्गलपञ्ञति का शाब्दिक अर्थ होता है - पुद्गल या व्यक्ति सम्बन्धी ज्ञान अथवा उसकी, पहचान। इस ग्रन्थ में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन है।

(उ) कथावत्थु:- कथावत्थु में 17 सम्प्रदायों के 216 सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। इसमें 23 अध्याय हैं।

(ऊ) यमक :- यमक का शाब्दिक अर्थ जुड़ना होता है। इस ग्रन्थ में प्रश्नों को युगलों में बनाकर प्रस्तुत किया है। प्रश्नों के उत्तर देते समय इस ग्रथों में अभिधम्म में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की निश्चित व्याख्या दी गयी है। यमक 10 अध्यायों में विभक्त है।

---

[32] डॉ. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.460

(ए) पट्ठान:- इसमें प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृत विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है। अनुलोम, पच्चनिय, अनुलोम पच्चनिय तथा पच्चनिय अनुलोम पट्ठान।

थेरीगाथा त्रिपिटक परिवार का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न भिक्षुणियों के उद्गार संकलित किये गये हैं। भिक्षुणियों के अपने जीवन के अनुभवों तथा वर्तमान अनुभवों का वर्णन किया है और तब भिक्षुणियों ने भिक्षुणी जीवन के वास्तविक सुखों और उसमें सहायक बौद्ध संघ के आचार व्यवहार से सम्बद्ध उद्गार व्यक्त किया है।

चूँकि महाप्रजापति गौतमी के बुद्ध संघ में प्रवेश के बाद अनेक भिक्षुणियों ने संघ में प्रवेश पाया और सांसारिक जीवन के कष्टों से मुक्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति के साथ वे स्त्री मुक्ति के स्वर को भी अभिव्यक्ति देने में सफल हो पायीं। इन्हीं भिक्षुणियों के उद्गारों को थेरीगाथा नामक अध्याय में स्थान दिया गया है।

बौद्धकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का शुरूआती दिनों में विकास मगध तथा कोसल राज्यों में पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में हुआ। बौद्ध धर्म के उदय एवं विकास को समझने के लिए आवश्यक है। मानव जीवन में आये भौतिक परिवर्तनों की पड़ताल करना।

कृषि एवं पशुपालन :-

"लगभग 700 ई.पू. में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के लोगों के भौतिक जीवन में क्रान्ति का मुख्य कारण था बौद्ध धर्म के द्वितीय काल में लोहे के प्रयोग का प्रारम्भ। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एटा जिले में अतरंजीखेड़ा की एक कार्बन-14 तिथि लोहे के प्रारम्भ को लगभग 1000 ई.पू. तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लगभग 800 ई.पू. में हुआ था।... सातवीं छठी

शताब्दी ई.पू. में बिहार के सारण जिले के चिरांद नामक स्थल में हमारे पास लोहे का साक्ष्य है, तथा जिनमें अधिकांश को पहचाना नहीं जा सकता, वैशाली में प्राप्त हुए हैं।"[33]

इन स्थानों से बल्लम, भाले के अग्र भाग, वाणाग्र, कुल्हाड़ी छुरे, कील, छेनी, ब्लेड आदि अनेक लौह उपकरण प्राप्त हुए जिनसे कृषि कार्य करने में सुगमता आई कृषि उत्पादन में वृद्धि हुयी, क्योंकि पहले कृषि उपकरणों के नाम पर पत्थरों का इस्तेमाल होता था जो उत्पादन में उस प्रकार सहायक सिद्ध नहीं होते थे जैसे लौह उपकरण।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हल की कृषि, संभवतः लोहे के फाल की सहायता से लगभग 600 ई. पू. अथवा कुछ बाद में प्रारम्भ हुयी थी। लौह अयस्क से बने उपकरणों की सहायता से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुयी। लौहे उपकरणों की सहायता से जंगलों का साफ करके कृषि योग्य भूमि का निर्माण किया गया और बस्तियों की स्थापना की गई जिसने नवीन कृषि तकनीकों को जन्म दिया। बुद्धकालीन कृषकों को कृषियोग्य भूमि की पहचान थी उन्हें यह पता था कि किस भूमि में कौन सी फसल पैदा की जानी चाहिए। खेतों की भलीभाँति जुताई के बाद उनमें अच्छे किस्म के बीज बोये जाते थे। जातकों से स्पष्ट है कि जब बुआई का समय सन्निकट आता था तब सारे नगर को सजाया जाता था। राजा स्वयं इस उत्सव में भाग लेते थे। रत्नों से युक्त हल द्वारा राजा खेतों की जुताई करता था। तत्पश्चात् कृषक भी यह काम करते थे। इससे दो बाते स्पष्ट होती हैं - पहली यह कि राजा राष्ट्र का प्रतीक था। वह समस्त कार्यों की भाँति कृषि जैसे उत्तम कार्य का भी शुभआरम्भ करता था, दूसरी बात यह कि कृषिकार्य इतना महत्वपूर्ण था किस इस अवसर को सांस्कृतिक तौर-तरिके से सम्पन्न करने के लिए यह कार्यक्रम बनाया जाता था।

[33] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ. 167

कृषियोग्य भूमि की सिंचाई के लिए वर्षा जल तथा कृत्रिम साधनों में नदियों, तालाबों एवं कुएँ के जल का इस्तेमाल दिया जाता था। जातकों में इस प्रकार जल प्राप्त करने के ढंग को निक्ख सकुण्डल कहते थे। इस समय कृत्रिम नहरों के निर्माण की कोई सूचना नहीं मिलती है। यद्यपि कीथ महोदय ने ऋग्वैदिक काल में सिंचाई के साधनों के रूप में नहरों के निर्माण का उल्लेख किया है। अंगुत्तरनिकाय में पक्के तलाबों का उल्लेख है जो सिंचाई तथा स्नानादि अन्य कार्यों के लिए उपयोगी माने गए हैं।

बौद्ध युग में भी व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व था। अनाथपिण्डक, अम्बपालि एवं जीवकों ने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में भूमि एवं उद्यान दान किये थे। स्त्रियों द्वारा भूमि दान की जाती थी। जिससे स्पष्ट है भूमि स्वामित्व उनके पास भी था। जिससे स्पष्ट है भूमि स्वामित्व उनके पास भी था। इस समय समाज में श्रमिक एवं सेवकों की संख्या अधिक थी। श्रमिक को काम की अपेक्षा वेतन कम मिलता था। जिससे वे जीवन पर्यन्त सेवक ही रहें।

भारत में पशुपालन की शुरूआत नवपाषाण काल से शुरू होती हैं। बुद्ध काल में गाय, बैल, हाथी, घोड़ा मुख्य पालतू पशु होते थे। पशुपालन का कार्य सभी वर्गों द्वारा किया जाता था। पशुपालन से आर्थिक स्वायत्तता आती गई।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कुरु-पंचाल क्षेत्र में यज्ञों में बलि द्वारा पशुधन का एक बड़ा भाग नष्ट हो रहा था, जो संभवतः पूर्व कृषि अवस्था की भोजन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति की परिष्कृत विधियाँ थीं। यही बात पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में भी थी जैसा कि शतपथ ब्राह्मण से संकेत मिलता है। परंतु एक बार धर्म द्वारा अनुमोदित हो जाने के उपरान्त ये यज्ञ पशुधन को नष्ट करने का अर्थहीन साधन हो गये जिससे कृषि का विकास अवरूद्ध हुआ।

बौद्धों ने पशुबलि का बहिष्कार किया तथा पशुओं के प्रति हिंसा की निंदा की। जिससे कृषि की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आरम्भ के पालिग्रन्थों पशुबलि का विरोध किया गया है। सुत्तनिपात में अहिंसा को महानतम गुण माना गया है। बुद्ध ने यज्ञ में दी जाने वाली पशुबलि (विभिन्न देवताओं के लिए अलग-अलग पशुओं की बलि) का विरोध किया। यह निश्चित् रूप से एक क्रान्तिकारी उपदेश था, जबकि भोजन और धर्म अथवा दोनों के लिए पशुहत्या की जाती थी।

"लोहे के फाल, दरांत, फावड़ा आदि के प्रयोग पर आधारित कृषि के परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पाद अधिशेष उपलब्ध होने लगा जो पत्थर अथवा तांबे के उपकरणों से प्राप्त करना संभव नहीं था। इसने उत्तरी पूर्वी भारत में लगभग 600 ई.पू. में नगरीय बस्तियों के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की।"[34] बुद्धकालीन भौगोलिक भारत का अध्ययन करने से ज्ञात होता है, उस समय कुशीनगर, गया, नालन्दा, पावा, भोमनगर, चंपा, राजगृह, वैशाली, कौशम्बी, श्रावस्ती पाटलिपुत्र (बाद में) नगर रूप में ख्यात थे जिनकी पुष्टि प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों एवं पुरातत्व से होती है। नगरों के विकास में व्यापारियों का महत्वपूर्ण स्थान था। क्योंकि इस समय व्यापार का विकास हो रहा था और व्यापारी वर्ग समृद्धि की ओर बढ़ रहा था। नगर में ही सभी प्रशासनिक व्यक्ति भी रहते थे। बुद्ध का युग महाजनपदों का युग था। अंगुत्तर निकाय में 16 महाजनपदों का उल्लेख है। नगरीय जीवन से परम्परागत प्राचीन जनजातीय परिवार टूटे जिनसे परित्यक्त हुयी स्त्रियों के एक वर्ग का जन्म हुआ जिन्होंने भरण-पोषण के साधन के रूप में वेश्यावृत्ति को अपना लिया। प्राचीन पालि ग्रन्थ नगरों में रहने वाली वेश्यओं का उल्लेख करते हैं। वैशाली नगर आम्रपालि के कारण प्रसिद्ध हो गया।

[34] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ. 173

जो अपने संरक्षकों से एक रात का पचास 'कहापण' लेती थी। यह स्त्रियाँ भी संघ में प्रवेश पा सकती थी। इनके संघ में प्रवेश कर कोई रोक नहीं थी। इस प्रकार नगरीय जीवन की इस वेश्यावृत्ति के प्रति बौद्ध उदार थे। परन्तु ब्राह्मणों का दृष्टिकोण इसके विपरीत था वे इनसे अन्न, जल ग्रहण नहीं करते थे।

नगरीय एवं ग्रामीण जीवन :-

नगरीय जीवन के समानान्तर ग्रामीण जीवन के संबन्ध में सुत्तपिटक के सूचना मिलती है उसके अनुसार ग्रामीण जीवन ज्यादा सरल एवं साधारण था। छोटे-मोटे धन्धों से लोग जीविकोपार्जन करते थे तथा कुछ लोग, कृषि एवं पशुपालन का कार्य करते थे। प्रायः एक ही गाँव में अनेक पेशे के लोग एक साथ रहते थे। कुछ ऐसे भी ग्रामों का उल्लेख मिलता है जहाँ एक ही पेशे के लोग रहते थे, जैसे जातकों से बुनकरों, काष्ठकारों, कुम्भकारों, मछुआरों, चर्मकारों के ग्रामों का विवरण प्राप्त होता है। सुत्तपिटक के विवरण के आधार पर गाँवों को सार्थवाह, सजातीय, व्यावसायिक एवं ब्राह्मण इत्यादि ग्राम के रूप में देखा जा सकता है। सार्थवाह शब्द का अर्थ है व्यापारिक काफिले। मज्झिमनिकाय में हजारों व्यापारियों के काफिले का उल्लेख प्राप्त होता है। अंगुत्तरनिकाय से पता चलता है ये स्थायी ग्राम नहीं होते थे क्योंकि जब व्यापारिक काफिले द्वारा स्थान विशेष पर लम्बी अवधि तक वास किया जाता था तो उस स्थान को गाँव के रूप में स्वीकार किया जाने लगता था।

व्यावसायिक ग्राम मुख्यतः व्यावसायिक दृष्टि से बसाये जाते थे। इन व्यावसायिक ग्रामों में शिल्प, व्यापार, उद्योग से समबन्धित लोगों का निवास हुआ करता था। व्यावसायिक ग्राम में विभिन्न जाति और पेशों के लोग रहते थे। "कुछ ग्राम ऐसे भी थे जहाँ

विशेष प्रकार क पेशें से सम्बन्धित व्यक्ति रहते थे। काशी राज्य में ऐसे ग्राम का उल्लेख है जहाँ हजारों की संख्या वाले केवटों एवं कुम्भकारों का गाँव था।"[35]

कुछ ऐसे गाँव थे जिनकी स्थापना सजातियों द्वारा की गई थी। दीघ और मज्झिम निकाय के सन्दर्भों से ऐसे ग्रामों के विषय में सूचना मिलती है- यथा तोदेय्य ब्राह्मण। यह नाम एवं ग्राम दोनों रूपों में मिलता है।

"सुत्तपिटक के ग्रन्थों से अनेक ऐसे ग्रामों का विवरण प्राप्त है जहाँ ब्राह्मणों का आवास था और वे ब्राह्मण ग्राम के रूप में स्थापित थे। संयुक्त निकाय में एकनाला ग्राम का उल्लेख है जो विशुद्ध ब्राह्मणों का गाँव था।"[36] एकनाला ग्राम में ही कासिभारद्वाज नामक ब्राह्मण से बुद्ध की वार्त्ता हुयी थी। उसके बाद वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ।

अतः नगरीय व ग्रामीण जीवन में साम्यता और भिन्नता दोनों दिखाई देती है। गाँवों और नगरों में आवासीय भिन्नता देखने को मिलती है। सुत्तपिटक से ज्ञात होता है नगरों में शालीन आवासीय परम्परा थी, जिसमें प्रभावशाली और समृद्ध श्रेष्ठियों का निवास स्थान था। नगरों में सुरक्षा के अच्छे बन्दोबस्त थे। नगरों को तोरणों से युक्त प्रकारों से घेरा जाता था जिसमें एक ही प्रवेशद्वार होता है। जिसकी कुशल रक्षकों द्वारा रक्षा की जाती थी।

आबादी में जनसंख्या के स्तर पर भी गाँवों और नगरों में भिन्नता थी। गाँवों में ज्यादा लोग निवास करते थे क्योंकि कृषि एवं पशुपालन गाँवों में ही ज्यादा था।

---

[35] डॉ. अखिलेश्वर मिश्र, बुद्धकालीन सामाजिक आर्थिक जीवन, पृ.63

[36] वही, पृ. 20

व्यापारिक दृष्टि से भी गाँवों एवं नगरों में भिन्नता थी। इस समय व्यापार के अच्छे विकास के कारण व्यापारी वर्ग अत्यन्त धनी हो गया और आर्थिक दृष्टि से राजा की बराबरी करने लगा। इस आर्थिक विकास के कारण नगरीय जीवन के प्रति झुकाव बढ़ा।

व्यवसाय एवं वाणिज्य :-

सुत्तपिटक में तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। बौद्धकालीन व्यवसायों में धातुकर्म, मृदभाण्ड कार्य, बढ़ई गिरी, कताई-बुनाई, उद्योग, हाथी दाँत के कार्य आदि आते थे। इस समय में व्यवसाय करने वाले लोग अपने-अपने काम के अनुसार जातियों में बँट गये थे। ये प्रायः पैतृक पेशा ही अपनाते थे। परन्तु जीवन निर्वाह के लिए यह कोई बाध्यता नहीं थी। ये अपना काम छोड़कर दूसरा काम भी अपना सकते थे। "व्यापार के प्रति ब्राह्मण-दृष्टिकोण बहुत उदार नहीं था। प्राचीनतम विधि ग्रन्थ वैश्यों के लिए व्यापार और कृषि का निर्धारण करते हैं। वैश्यों को समाज में तीसरा स्थान दिया गया था, जबकि पहले दो स्थान ब्राह्मण और क्षत्रियों के लिए सुरक्षित थे। आपत्ति के काल में ब्राह्मणों को व्यापार की अनुमती थी परन्तु यह बहुत सीमित था। वे मनुष्यों, तरल पदार्थों, सुगंधियों, कपड़े, चमड़े, अनाज आदि का व्यापार नहीं कर सकते थे।"[37] इससे ज्ञात होता है कि इन वस्तुओं का व्यापार करने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता था।

"सुत्तपिटक में लोहे और उससे बनने वाली वस्तुओं के बारे में पला चलता है। लुहार कृषि कार्य में उपयोग में लायी जाने वाली वस्तुएँ हल, कुदाल, फावड़ा, हँसिया, कुल्हाड़ी आदि बनाता था। जिससे कृषि जीवन में एक क्रान्ति आयी। इन औजारों की सहायता से

[37] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ.174

वनों की कटाई करके कृषि योग्य भूमि निर्मित की गई और बस्तियाँ भी बनाई गई। लोहे के उपयोग से युद्ध के लिए तलवार, तीर, कवच, बरछी आदि भी बनाई गयी।

"सुत्तपिटक में लोहे के साथ जिन अन्य धातुओं का उल्लेख मिलता है उनमें ताँबा, काँसा आदि हैं। सुत्त के उपग्रन्थ सुत्तनिपात में काँसे के बने हुए कुछ बर्तनों का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि काँसे के एक बड़े पात्र में दूध भरकर बुद्ध को पीने के लिए दिया गया था।"[38]

"सुत्तपिटक में वर्द्धकीय कार्यों का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट होता है लकड़ी सम्बन्धी कार्य करने वाला बढ़ई होता था। बढ़इयों द्वारा बनाई गई वस्तुओं में वाहनों तक का जिक्र मिलता है। इन कार्यों को करने के लिए जंगल से लकड़ी प्राप्त की जाती थी। मल्ल राज्य की राजधानी कुशीनगर के चारों ओर शालों का वन था।"[39] मृद्भाण्ड कला भी बौद्ध के समय में काफी विकसित थी।

बौद्ध कालीन भारत में वस्त्र उद्योग का भी विकास हुआ। तत्कालीन समय में काशी जनपद अपने वस्त्रों के लिए ख्यात था। वह वस्त्र काशीय कहलाता था। काशी में कपास की खेती होती थी और वहाँ के बुनकर कुशल होते थे। इसलिए काशी के वस्त्र उत्तम, सौन्दर्य पूर्ण एवं आनन्ददायक होते थे। काशी के अलावा कश्मीर और गन्धार के भी वस्त्र उद्योग प्रसिद्ध थे। कश्मीर के पश्मीना वस्त्रों की ग्रन्थों में चर्चा हुयी है। इस समय सूती, रेशमी, ऊनी विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे। विभिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग किस्म के वस्त्र तैयार किये जाते थे यथा राजा के लिए वस्त्र जड़ित होते थे जो भोग-विलास की और इशारा करते थे। "सुत्तपिटक में भिक्षुओं के लिए जिन वस्त्रों को पहनने का निर्देश है उनके वस्त्रों को चीवर कहा

[38] डॉ. अखिलेश्वर मिश्र, बुद्धकालीन सामाजिक आर्थिक जीवन, पृ.63
[39] वही, पृ.67

जाता था। यह भिक्षुओं द्वारा स्वयं निर्मित किया जाता था।"[40] भिक्षुणियाँ भी चीवर धारण करती थीं।

"छठी शताब्दी ई.पू. में भारत में अनेकानेक नगरों का विकास हुआ इसके साथ ही व्यापार और वाणिज्य में उन्नति हुयी। वस्तुओं को व्यापार के लिए रथ, घोड़े, बैलगाड़ी, ऊँट, हाथी तथा गदहे आदि का प्रयोग किया जाता था। नाव की सहायता से भी अपने माल और वस्तुओं को नदी के रास्ते यातायात का महत्व व्यापार और उद्योग-धन्धें की दृष्टि से स्वतः स्पष्ट हो जाता है।"[41] इस समय स्थल मार्ग और जल मार्ग दोनों से व्यापार होता था। सुदूर पूर्व से लेकर पश्चिम तक विशाल मार्ग था। मगध से मिथिला, वाराणसी से कौशाम्बी तक इसका प्रयोग होता था। विदेह से काश्मीर एवं गान्धार तक व्यापारी जाया करते थे। वाराणसी तत्कालीन व्यापारियों का केन्द्र माना जाता था। प्रत्येक दिशा के व्यापारिक मार्ग यहाँ से होकर जाते थे। चम्पा भी एक महान व्यापारिक केन्द्र था। स्थल मार्ग से चम्पा मिथिला से मिला हुआ था। जातकों में अनेक प्रकार की सड़कों का उल्लेख मिलता है परन्तु सड़के अच्छी नहीं होती थीं। यात्राएँ अधितकर मरूभूमि एवं वनों से होकर होती थी। यात्रियों को पानी की कमी भी होती थी। उस समय यात्रा का प्रमुख साधन बैलगाड़ी थी। इस समय भारत के अन्दर व्यापार करने का उत्तम माध्यम नदी थी। अंगुत्तरनिकाय में उत्तर भारत की तमाम नदियों यथा गंगा, यमुना, सरयू इत्यादि नदियों का उल्लेख महानदी के रूप में हुआ है। देश के प्रायः बड़े नगरों का विकास नदियों के किनारे हुआ, जिनमें मुखयतः काशी पाटलिपुत्र, कौशाम्बी वैशाली चम्पा इत्यादि। इसीलिए ये व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हुए। गंगा-यमुना के संगम पर बसे प्रयाग का महत्व व्यापारिक दृष्टि से अत्यधिक था। वह जलीय मार्ग का

[40] डॉ. अखिलेश्वर मिश्र, बुद्धकालीन सामाजिक आर्थिक जीवन, पृ.78
[41] वही, पृ.80

प्रमुख केन्द्र था। यहाँ से वाराणसी को जाने वाला मार्ग चुनार होते हुए आता था। गंगा के तट पर स्थित बनारस भी जलीय मार्ग से व्यापार का प्रमुख स्थान था।

इस प्रकार देश के लगभग सभी प्रमुख नगर व्यापारिक केन्द्र होने के साथ-साथ सड़कों और नदियों से द्वारा परस्पर जुड़े होने के कारण व्यापारिक आदान प्रदान का लाभ उठाते हुए समृद्ध हुए।

व्यापार में धन का उपयोग होता था। जिसने ऋण देने की प्रथा तथा सूदखोरी को जन्म दिया। वैदिक ग्रन्थों में ऋण का भाव उपलब्ध है, परन्तु सूद का विचार स्पष्ट रूप से नहीं प्राप्त होता। छठी शताब्दी ई.पू. में धातु के सिक्कों के प्रचलन के साथ-साथ सूदखोरी की प्रथा आरम्भ हो गई। पालि ग्रन्थ ऋणी, ऋणदाता, ऋण तथा ब्याज का बार-बार उल्लेख करते हैं। बौद्ध ग्रन्थ ऋण देने की प्रथा की मर्त्सना नहीं करते। बुद्ध न केवल ऋण लौटाने पर बल्कि व्याज देने पर भी बल प्रदान करते हैं।

महात्मा बुद्ध के अनुयायी प्रायः सभी वर्ण के थे। जिन्होंने तृतीय शताब्दी ई.पू. से लेकर तृतीय शताब्दी ई. तक बौद्ध कला और संस्कृति का पर्याप्त विकास किया। अनेक स्तूप और चैत्य इस युग में बनाए गये जिनमें बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं को भी अंकित किया गया। यथा सांची और भरहुत मध्य भारत में अमरावती और नागार्जुनकोंडा दक्षिण भारत में और कार्के तथा भाजा पश्चिम भारत में। "ईंटों का बना प्राचीनतम स्तूप पिपरावा जिसका निर्माण संभवतः 450 ई० पू० में किया गया। इस स्तूप से ज्ञात होता है कि प्रस्तरों की स्थापत्य कला से पूर्व ईंटों का प्रयोग किया जाता है।"[42] चूँकि यह स्तूप और मूर्तियाँ बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कई सौ बरसों बाद पायी जाती हैं अतः इन पर ठहर के विस्तार से चर्चा

[42] पी. वी.बापट, बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पृ. 180

करना समीचीन नहीं है इस अध्याय में। बुद्धकालीन स्तूप और मूर्तियों के साक्ष्य नहीं मिलते हैं।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म का प्रभाव समाज के सभी वर्गों पर पड़ा। क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ समझने लगा क्योंकि लोहे के हथियारों के प्रयोग से सैन्य सामग्री में एक क्रान्ति आ गई तथा पुरोहितों की तुलना में योद्धाओं का राजनैतिक महत्व बढ़ गया। स्वाभाविक रूप से वे अन्य क्षेत्रों में समानता की स्थिति का दावा करने लगे। वैश्यों का स्थान पहले समाज में तीसरा था। बौद्ध धर्म में ब्याज पर रूपया उधार लेना, विदेश जाना, बाजार में भोजन करना और कुछ वस्तुओं को बेचना निषिद्ध नहीं समझा गया इसलिए उनके व्यापार की बहुत उन्नति हुई और वे बहुत धनी हो गये। उन्होंने बौद्ध संस्थाओं को बहुत दान दिया। उनकी भी समाज में प्रतिष्ठा बढ़ी। बुद्ध ने सच्चरित शूद्रों को भी संघ में प्रवेश का अवसर दिया। पहले स्त्रियों की स्थिति काफी गिर गयी थी। जब वे शिक्षा प्राप्त कर सकी तो वे भी सम्मान की अधिकारिणी हुयी बौद्ध धर्म में। बौद्ध धर्म के उदय के कारण भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। बुद्ध के अंहिसा और समानता के सिद्धान्तों ने भारतीय समाज को व्यापक स्तर पर बदलने में अपनी महती भूमिका निभाई और समाज में एक नई चेतना विकसित की।

द्वितीय अध्याय

संघ, स्त्री शिक्षा और प्रव्रज्या

पूर्व बौद्धकाल एवं बौद्धकालीन स्त्री जीवन:-

बौद्धकालीन संघ एवं नारी जीवन पर बात करने से पूर्व वैदिक एवं उत्तरवैदिक कालीन नारी जीवन के विषय में जान लेना समीचीन होगा। जिस प्रकार जैन-युगीन समाज और बौद्ध काल में भिक्षुणी-संघ एवं उसके नियम विधान मिलते हैं उस प्रकार वैदिक साहित्य में भिक्षुणी संघ या उससे मिलती जुलती किसी संस्था विशेष का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक-युग में भिक्षुणियों का अस्तित्व नहीं था । यद्यपि उस समय ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का अस्तित्व था तथा अनेक विदुषी नारियों ने धार्मिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। उस समय महिलाएँ पति की सहयोगिनी के रूप में धार्मिक कृत्य करती थीं । उनकी स्वतन्त्र चेतना इस प्रकार विकसित नहीं हुयी थी जैसी पुरुषों की थी क्योंकि उन्हें हमेशा सहायक की भूमिका प्राप्त होती थी। वैदिक काल मे स्त्रियों द्वारा रचित सूक्तों की संख्या बहुत कम थी जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ विशिष्ट वर्ग की स्त्रियों को पुरुषों ने अपने सहयोग के लिए शिक्षा प्रदान की होगी क्योंकि वैदिक काल में स्त्रियाँ घर से बाहर जाकर शिक्षा ग्रहण नहीं करती थीं। उनका धार्मिक जीवन गृहस्थाश्रम तक ही सीमित था। वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार केवल पुरुष-वर्ग को ही था। वैदिक काल में जिन विदुषी महिलाओं के साक्ष्य मिलते हैं यथा अपाला, घोषा, विश्वधरा, सरमा, उर्वशी आदि उन्हीं के आधार पर सम्पूर्ण स्त्री समाज का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। वैदिक काल में वर्ग का विभाजन कर्म के आधार पर हुआ था। तब शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा

न ग्रहण करने वाले समाज के स्त्री-पुरुष का बौद्धिक स्तर क्या रहा होगा जिनके लिए शिक्षा प्रतिबंधित थी।

उत्तरवैदिक काल में नारी धार्मिक अधिकारों से भी वंचित कर दी गई। उसे उपनीत एवं शिक्षित करना भी अनावश्यक समझा जाने लगा। फलतः अनुपनीत एवं अशिक्षित नारी शुद्र की श्रेणी में आ जाने से भोग्यवस्तु के रूप में समाज में रहने लगी थी। उसे वेदों के मंत्रोच्चारण तक का भी अधिकार नहीं रह गया था। इस प्रकार बौद्ध युग के आते-आते नारी के जीवन का मुख्य उद्देश्य विवाहित होकर जननी जैसे महत्वपूर्ण पद को प्राप्त कर पति एवं पितृऋण से मुक्त कर देना मात्र रह गया था। अथर्ववेद संहिता में जिक्र है एक स्त्री अपने मृत पति के शोक में चिता पर जा लेटती है जिसे उसके अन्य सम्बन्धी हटाते हैं -

"अपश्यं युवति नीयमानां जीवां मृतेभ्य परिणीयमानम्।
अन्धेन यन्तमसा प्रावृतासीत्प्रोक्तो अपाचीवमवयं तदेनाम्॥"[1]

मृतक पति के साथ चिता में लेटी स्त्री को देखने के बाद मैंने उसे वहाँ से हटाया जो शोक रूपी घनान्धकार से आवृत्त थी।

यहाँ महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि उस स्त्री को सम्बन्धियों द्वारा चिता से हटा कर बचा लिया जाता है अपितु महत्वपूर्ण यह जानना है कि आखिर वो कौन सी परिस्थितियाँ थी जिसके कारण वह स्त्री, चिता पर मृत पति के साथ लेटने पर मजबूर हुई होगी ? इन सूक्तों की इस प्रकार से व्याख्या करके ही तत्कालीन समाज की उन ग्रन्थियों तक पहुँचा जा सकता है जहाँ स्त्रियाँ शोषित हो रही थीं।

[1] अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ.28

बौद्ध साहित्य से जानकरी मिलती है कि तत्कालीन भारत में न केवल परिवार की स्त्रियों को पुरुषों के समान धर्मपालन का अधिकार था, अपितु वे पुरुषों की भाँति गृहावास त्यागकर बुद्ध के द्वारा संस्थापित भिक्षुणी संघ में भी प्रवेश लेती थीं। संघ में पुरुष एवं स्त्री क्रमशः भिक्षु एवं भिक्षुणी के रूप में रहकर दुःखों के विनाश के लिए साधना करते थे। बुद्ध के द्वारा भिक्षुणी संघ की स्थापना का नारियों ने हार्दिक स्वागत किया तथा उसमें प्रवृष्ट होने के लिए अभूतपूर्व उत्साह दिखाया था। किंतु भिक्षु संघ से भिक्षुणी संघ की स्थापना का इतिहास सर्वथा भिन्न है। बुद्ध ने जिस समय अपना उपदेश देना शुरू किया था उस समय केवल भिक्षु संघ की ही स्थापना की थी। बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना भिक्षु संघ की स्थापना के पाँच वर्ष बाद अनिच्छापूर्वक की थी। जैसा कि बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है इन पाँच वर्ष की अवधि में न तो किसी नारी ने पारिवारिक जीवन त्याग कर प्रव्रजित होने का प्रयत्न किया था और न बुद्ध ने नारी को इस विषय में किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन ही दिया था।

"यह कहना अनुचित होगा की बौद्ध-युगीन समाज में नारियाँ प्रव्रज्या नहीं लेती थीं। चुल्लवग्ग से ज्ञात होता हैं कि उस समय भी कुछ सम्प्रदायों यथा जैन सम्प्रदाय आदि में स्त्री को प्रव्रज्या देने की परम्परा थी।"[2] भिक्षु संघ की स्थापना के बाद पाँच वर्ष तक भिक्षुणी-संघ की स्थापना न होने का यह कारण हो सकता है कि इस लम्बी अवधि में या तो किसी नारी ने बुद्ध के सम्मुख प्रव्रज्या लेने की इच्छा को व्यक्त करने का साहस ही न किया हो या फिर किसी नारी के असफल प्रयत्नों को महत्त्वहीन बनाने की दृष्टि से आगम साहित्य में उल्लिखित नहीं किया गया हो। "कारण जो भी रहा हो परन्तु बुद्ध ने पुरुष वर्ग को भिक्षु बनाने में जो दक्षता दिखाई वह नारी को भिक्षुणी बनाने में क्यों नहीं दिखाई अथवा नारी-वर्ग ने उस धर्म में

[2] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.173

पुरुषों के समान उत्साह एवं साहस के साथ भाग क्यों नहीं लिया जिसमें सिद्धान्त-रूप से नारियों को पुरुषों के समान ही दुःखों के क्षय करने में समर्थ माना गया था।"[3]

गौतम बुद्ध के गार्हस्थ जीवन से ज्ञात होता है कि भ्रमण के दौरान क्रमशः रोगी, वृद्ध, मृत एवं प्रव्रजित व्यक्तियों को देखकर उन्हें सांसारिक जीवन से विमोह उत्पन्न होने लगा और जब वे राजप्रसाद में आये तो परिचारिकाओं ने नृत्य, गीत, वाद्यादि से उनका मनोरंजन करना चाहा किन्तु भोगों से विरक्त राजकुमार सिद्धार्थ शीघ्र ही सो गये । प्रयोजनाभाव से परिचारिकाएँ भी सो गईं। अर्धरात्रि के समय अचानक सिद्धार्थ जगे उन्होंने देखा परिचारिकाएँ अस्त-व्यस्त अवस्था में सोई हुयी हैं। उनके रूप सौन्दर्य से उन्हें विरक्ति हुयी और भोगों से ग्लानि हो गयी। उन्होंने तुरंत राजप्रसाद छोड़ने का निश्चय किया। घर छोड़ने के पहले उनके हृदय में अपने पुत्र को देखने की इच्छा हुयी और वे यशोधरा के कमरे में पहुँचे जहाँ यशोधरा अपने बच्चे राहुल के मस्तक पर हाथ रखकर सो रही थी। तभी उन्होंने सोचा यदि यशोधरा का हाथ हटाया गया तो वह जग जायेगी और महाभिनिष्क्रमण में विघ्न आ जायेगा। अतः वे अपने पुत्र को बिना देखे ही चले गये।

बुद्धत्व प्राप्ति के उपरान्त महात्मा बुद्ध ने जगह-जगह अपना उपदेश दिया और अपने मत का प्रचार किया तथा भिक्षु संघ की स्थापना की। प्रारम्भ में प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा के इच्छुक व्यक्तियों को उन्होंने यह कहकर प्रव्रजित एवं उपसम्पन्न किया कि 'भिक्षु ! आओ धर्म अच्छी तरह से व्याख्यात है, दुःखों के नाश के लिए भली भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करो'।

"एथ भिक्खवो" ति भगवा अवोच-"स्वाक्खातो धम्मो चरथ बह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाया" ति।[4]

---

[3] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.173

बुद्ध के उपरोक्त गत जीवन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने स्त्रियों के रूप सौंदर्य से विरक्ति के बाद प्रव्रज्या की अन्तिम प्रेरणा पाई थी तथा प्रव्रज्या के हेतु जाते समय इस बात में सतर्कता अपनाई थी कि उनकी पत्नी को उनके गृहत्याग की जानकारी न हो। इस घटना पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'यशोधरा' नामक खण्ड काव्य लिखा। जिसकी मूल संवेदना यही है कि बुद्ध ने यशोधरा का परित्याग करते समय उसे बताना भी जरूरी क्यों नहीं समझा। अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बुद्ध स्त्रियों को न केवल सांसारिक दुःखों का मूल कारण मानते थे अपितु उन्हें दुःख विनाश में बाधक भी समझते थे। इसलिए उन्होंने सम्यक प्रकार से दुःख नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक तथा स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का विकार बताया था। "इत्था मलं ब्रह्मचरियस्स एत्थायं सज्जते पजा।"[5] चूँकि बुद्ध संघ को विशुद्ध ब्रह्मचर्य के पालन करने का प्रमुख स्थल बनाना चाहते थे। अतः वे उससे ब्रह्मचर्य के विकार स्त्री को दूर ही रखना चाहते थे। यद्यपि बुद्ध नारी को भी धर्म पालन का अधिकारी मानते थे किन्तु साथ में वे यह भी चाहते थे कि स्त्रियाँ अपने अधिकार का प्रयोग घर में रहकर ही करें। निष्कर्षतः यह कि बुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से स्त्री एवं पुरूष में धर्माचरण करने की समान क्षमता स्वीकार करते थे किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने के पक्षधर नहीं थे।

भिक्षुणी संघ एवं उसके नियम:-

बौद्ध संघ के विषय में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह सामाजिक एवं राजनीतिक हस्तक्षेपों से मुक्त संस्था थी। यद्यपि संघ की आन्तरिक व्यवस्था तत्कालीन गणतन्त्र प्रणाली पर आधारित थी एंव भिक्षुओं का भिक्षा आदि के लिए समाज में जाने पर जिन नियमों का

---

[4] महावग्ग, प्रकाशन-नालंदा देवनागरी पालि ग्रंथमाला बिहार, पृ.16

[5] संयुक्त निकाय, प्रकाशन-नालंदा देवनागरी पालि ग्रंथ माला बिहार, पृ. 36

पालन करना होता था वे नियम सामाजिक व्यवस्था पर आधारित थे तथापि राज्य का कोई भी नियम संघ के किसी सदस्य पर लागू नहीं होता था न किसी कारण संघ के सदस्यों को राज्य की ओर से दण्डित किया जा सकता था। फलतः संघ को भी राज्य एवं समाज का संरक्षण प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार नहीं रह गया था। "ये समणेसु सक्यपुत्तियेसु पब्बजति न ते लब्धा किन्चि कातुं।"[6]

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संघ में ब्रह्मचर्य की अटूट साधना के हेतु पुरुष वर्ग ही निभ सकता था नारी वर्ग नहीं। कारण बुद्ध के संघ का जो रूप था वह नारी की सुरक्षा करने मे असमर्थ था। इस कारण से भी बुद्ध नारी को संघ में प्रवेश नहीं देना चाहते थे। बुद्ध अपने धर्म को चिर स्थायी बनाने के लिये संघ से नारी को दूर रखना चाहते थे।

"बुद्ध ने धर्म प्रचार के पाँचवे वर्ष भिक्षुणी संघ की स्थापना की थी। बुद्ध जब वैशाली की कूटागारशाला में निवास कर रहे थे तो उन्हें शुद्धोदन की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ। कपिलवस्तु पहुँचकर उन्होंने कोलियों एवं शाक्यों के मध्य होने वाले रोहिणी नदी के जल विवाद को भी शांत किया। कपिलवस्तु में ही प्रजापति गौतमी ने बुद्ध से भिक्षुणी बनने की आज्ञा माँगी। बुद्ध ने गौतमी की माँग तीन बार अस्वीकार कर दी तथा वैशाली प्रस्थान कर गये। गौतमी ने भी बुद्ध का अनुसरण किया आनंद से मध्यस्थता की बात कही। आनंद ने बुद्ध से भिक्षुणी संघ की स्थापना की प्रार्थना की। बुद्ध ने इसे अस्वीकार कर दिया। आनंद के पुनः आग्रह करने पर बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना कुछ शर्तों के साथ की। बुद्ध ने यह भी कहा कि भिक्षुणी संघ की स्थापना से बौद्ध धर्म की आयु आधी हो जायेगी।"[7]

भिक्षुणी संघ के नियमः-

---

[6] महावग्ग, पृ.78

[7] आनन्द सिंह, प्राचीन भारतीय धर्म उद्भव और स्वरूप, पृ.108

यद्यपि बुद्ध को नारियों के लिए संघ में प्रवेश देने का विधान करना पड़ा किन्तु उसके पूर्व उन्होंने आठ ऐसे नियम बना दिए जिसके कारण भिक्षुणी का स्तर भिक्षु की अपेक्षा निम्न हो गया। चुल्लवग्ग में इन्हें आठ गुरूधर्मों के नाम से कहा गया है क्योंकि इनका पालन करना प्रत्येक भिक्षुणी के लिए अनिवार्य था तथा इनका कोई अपवाद नहीं था।[8] ये नियम इस प्रकार हैं –

(1) सौ वर्ष की भी उपसम्पन्न भिक्षुणी को उसी दिन के उपसम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान (भिक्षु को देखकर खड़ा हो जाना) अंजलि जोड़ना, कुशल समाचार आदि पूछना करना चाहिए।

(2) भिक्षुणी को भिक्षु हीन आवास में वर्षावास नहीं करना चाहिए।

(3) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु संघ से उपोसथ की तिथि एवं उपदेश का समय पूछना चाहिए।

(4) वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुणी को भिक्षु-भिक्षुणी दोनो संघों के समक्ष देखे, सुने एवं जाने गए दोषों की प्रवारणा करनी चाहिए अर्थात् यह पूछना चाहिए कि क्या उनके ऊपर कोई दोष देखा सुना या जाना गया है।

(5) गम्भीर दोष से युक्त भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष पक्षमानत्व करना चाहिए।

(6) दो वर्षों में 6 नियमों को सीखने वाली शिक्षमाणा को दोनों संघों से उपसम्पदा ग्रहण करनी चाहिए।

[8] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.179-180

(7) भिक्षुणी को भिक्षु से किसी प्रकार का विद्वेष नहीं करना चाहिए।

(8) भिक्षुणी को भिक्षु से अपशब्द नहीं कहना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन आठ गुरूधर्मों का निरूपण कर बुद्ध ने संघ की प्रभुसत्ता भिक्षुओं के हाथ में दे दी। इसका कारण यह था कि वे समझते थे स्त्रियों को संघ में अधिकार-सम्पन्न स्थान देने से न केवल संघ को ही हानि पहुँचेगी अपितु संघ के प्रति समाज की प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी होगी।

महाप्रजापति गौतमी के नेतृत्व में 500 स्त्रियों को संघ में प्रवेश मिलने के बाद नारी जीवन में नवीन स्फूर्ति आ गई। इसके पूर्व पाँच वर्षों तक स्त्रियों और पुरुषों को सिद्धान्ततः समान-अधिकार देने वाले बुद्ध के संघ में पुरुष वर्ग का एकाधिकार रहा, जहाँ समाज के आधे तबके लिए कोई जगह नहीं थी। इन पाँच वर्षों में समाज में स्त्रियों की दशा और भी दयनीय हो गयी थी। कारण बौद्ध धर्म के पहले स्त्रियों की स्थिति कितनी ही शोचनीय क्यों न रही हो परन्तु नारी को अचानक पति के संरक्षण के खत्म हो जाने का डर नहीं रहता था। वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही स्त्री का पति कब भिक्षु बन जायेगा इसकी आशंका हमेशा बनी रहती थी।

नारियों के संघ में प्रवेश के बाद संघ के समक्ष तरह-तरह की कठिनाइयाँ आने लगी थी अतः बुद्ध को भिक्षुणी-संघ के लिए अलग से विधान बनाना पड़ा। यद्यपि भिक्षुणी-संघ के लिए भिक्षु-संघ के आधार पर अवश्य विधान बनाया गया था किन्तु कुछ ऐसे भी नियम बनाये गये थे जिनका सम्बध केवल भिक्षुणियों से था। इनको मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है -

(1) "प्रथम भाग में उन नियमों को रखा गया जो भिक्षुणियों की शारीरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाये गये थे। जब कभी भिक्षुणियां समाज में जाती थी तो उन्हें बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती थी। यदि किसी कारण उनका सीना, रक्तसाव से लिप्त चीवर आदि मनुष्यों को दृष्टिगोचर हो जाते थे तो वे हँसी उड़ाने में नहीं चूकते थे। अतः उनके लिए भिक्षुओं से अधिक वस्त्रों को रखने का विधान किया गया था। इसके अतिरिक्त उन्हें उचित समय पर कमरबन्ध, लोहूसोख सूत, उदकशाटी आदि भी धारण करना आवश्यक था।[9]

(2) "द्वितीय भाग में वे नियम रखे जा सकते हैं जो भिक्षुणियों के स्त्री स्वभाव जन्य एवं संघ विरूद्ध क्रियाकलापों के निषेध के लिए बनाये गये थे। चूँकि स्त्रियाँ स्वभाव से परिग्रही होती हैं, अतः वे अधिक संचय करना चाहती हैं। भिक्षुणियाँ भी ऐसा करती थीं। वे काम भोगिनी नारियों की भाँति शरीर को सँवारने के हेतु नाना प्रवृत्तियाँ करती थी अतः उन सब प्रवृत्तियों को रोकना इन नियमों का मुख्य लक्ष्य था।"[10]

(3) "तृतीय भाग में उन नियमों को रख सकते हैं जो भिक्षुणियों को काम-वासना से दूर रखने के निमित्त से बनाये गये थे। कामुकता से दूर रखने के लिए भिक्खुनी-पातिमोक्ख में प्राप्त नियमों की संख्या से अधिक है। इसका मुख्य कारण यह था कि स्त्रियाँ सदैव पुरुषों से अधिक कामुक होती हैं। साथ ही उनको ब्रह्मचर्य से च्युत करने के लिये समाज में भी काम लोलुप पुरुषों की कमी नहीं होती अतः भिक्षुणियों को ब्रह्मचर्य से स्थलित होने से बचाने के लिए ये नियम बनाए गये थे।"[11]

---

[9] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.181

[10] वही, पृ.181

[11] वही, पृ.181

इससे निष्कर्ष निकलता है कि भिक्षुणियों को अपना जीवन बड़े ही संयत ढंग से व्यतीत करना होता था। उन्हें सदैव इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि कहीं उनके जीवन यापन के तरीकों से संघ की प्रतिष्ठा को हानि तो नहीं होगी किन्तु इसके साथ उन्हें इस बात का ध्यान रखना होता था कि कहीं उनका कोई कार्य गृहस्थाश्रम में जीवन बिताने वाली स्त्रियों से एकदम विलक्षण तो नहीं है। यदि भिक्षुणियाँ सामाजिक नारियों से पूर्णतया भिन्न आचार-व्यवहार का पालन करती थीं तो वे साधारण मनुष्यों के व्यंग्य और उपहास का पात्र बनती थीं।

"भिक्षुणियों को उनकी विद्वता के कारण समाज के कुछ व्यक्तियों द्वारा अवश्य सम्मान मिला था किन्तु कुछ लोग अवसर पाकर उनका दुरूपयोग करते थे। यह प्रवृत्ति उस समय और भी अधिक पाई जाती थी जब भिक्षुणी नवयुवती एवं सुन्दरी होती थी। इसका कारण यह था कि भिक्षुणी के साथ अनुचित कार्य करने से व्यक्ति सामाजिक या राजनीतिक दण्ड का भागी नहीं होता था कभी-कभी समाज के सम्पन्न व्यक्ति भिक्षुणी पर आसक्त होकर उन्हें दूषित करने की दृष्टि से आमन्त्रित करते थे।"[12] तात्पर्य यह है कि भिक्षुणी संघ के उदय से समाज में आंशिक रूप से व्यभिचार को भी प्रोत्साहन मिला था।

इसके अतिरिक्त भिक्षुणी से सामाजिक, भ्रष्ट नारियाँ कभी-कभी गुप्त कार्य भी कराती थीं। एक प्रोषित पतिका स्त्री ने जार से प्राप्त गर्भ को गिरा कर बराबर घर आने वाली भिक्षुणी को पात्र में रखकर फेंकने के लिए दिया था।

"सा गब्भं पातेत्वा कुलूपिकं भिक्खुनिं एतदबोच "हन्दयये इमं गब्भं पत्तेन नीहरा""[13] ति॥

[12] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.183

[13] चुल्लवग्ग, प्रकाशन-नालंदा देवनागरी पालि ग्रंथमाला बिहार, पृ.388

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समाज ने जिस उत्साह के साथ भिक्षु-वर्ग का स्वागत एवं सम्मान किया था, उस उत्साह के साथ भिक्षुणी वर्ग का न तो स्वागत ही किया और न ही उनके प्रति सम्मान ही प्रदर्शित किया। परन्तु बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के बाद दासियाँ तथा गणिकाएँ तक जो समाज के सबसे नीचले पायदान पर थीं, भी मुक्ति की कामना करने लगी यह बौद्ध काल में स्त्री की दशा को सुधारने के लिए तमाम आपत्तियों के बावजूद क्रान्तिकारी कदम था। प्रसिद्ध इतिहाकार रामशरण शर्मा ने भिक्षु और भिक्षुणी जीवन के लिए बनाये गये नियमों को समाज व्यवस्था के लिए हितकर बताते हुए कहा है कि- "भिक्षुओं के आचरण के लिए बनाई गई नियम संहिता ईसा-पूर्व छठी और पाँचवी सदी वाले पूर्वोत्तर भारत की भौतिक स्थिति के प्रति हो रही प्रतिक्रिया की झलक देती है। इसमें भिक्षुओं के भोजन, परिधान और यौन संबध पर अंकुश लगाए गये हैं। ये नियम तो बुद्ध की मृत्यु के बाद शिथिल कर दिए परन्तु आंरभिक नियम एक प्रकार के आदि साम्यवाद की ओर लौटने का संकेत देते हैं जो साम्यवाद हमें व्यापार और उन्नत खेती न करने वाले कबायली समाज मे लक्षित होता है। भिक्षुओं के लिए बनाए गए ये आचार-नियम पूर्वोत्तर भारत के ईसा पूर्व पाँचवी सदी में विकसित मुद्रा के प्रचलन, निजी संपत्ति और विलासपूर्ण जीवन के विरूद्ध आंशिक विद्रोह की झलक देते हैं। उन दिनों मुद्रा और संपत्ति विलास की वस्तुएँ मानी जाती थी।"[14]

प्रव्रज्याः-

दुनिया को छोड़ने और तपस्वी जीवन शैली अपनाने की प्रक्रिया को प्रव्रज्या कहते हैं। प्रव्रज्या शुरूआती दीक्षा है जिससे बौद्ध भिक्षु या भिक्षुणी बनते हैं। प्रव्रज्या के सन्दर्भ में गोविन्द चन्द पाण्डेय ने लिखा है- "अपने पहले शिष्यों को भगवान बुद्ध ने स्वयं ही प्रव्रज्या दी

---

[14] रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का परिचय, पृ. 142

थी। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने संघ में प्रवेश यह कहकर माँगा था कि हम लोग भगवान के निकट प्रव्रज्या पाएँ उपसंपदा पाएँ और शास्ता ने यह कहकर उनको दीक्षित किया था कि 'आओ धर्म व्याख्यात है, अच्छी तरह दुःख के नाश के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो।"[15]

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने आगे प्रव्रज्या के सन्दर्भ में लिखा है-" जब से भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को धर्म के प्रचार के लिए नाना दिशाओं में भेजा उन्हे प्रव्रज्या और उपसंपदा देने की अनुमति प्रदान की । कपिलवस्तु में राहुल कुमार की प्रव्रज्या इस प्रकार शारिपुत्र के द्वारा सम्पन्न हुई। प्रव्रज्या के प्रार्थी को सिर और दाढ़ी मुँड़वा कर, काषाय-वस्त्र पहन, उन्तरासंग एक कन्धे में कर, बैठकर और हाथ जोड़कर तीन बार यह कहना पड़ता था – 'बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ , संघ की शरण जाता हूँ।'[16]

"पन्द्रह वर्ष की अवस्था से कम के व्यक्ति को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी। शुद्धोदन शाक्य के अनुरोध से तथागत ने यह स्वीकार किया कि माता-पिता की अनुमति के बिना पुत्र को प्रव्रज्या न दी जाए। कुष्ठ, गण्ड (फोड़ा), किलास (एक प्रकार का चर्म रोग), शोष (क्षय) एवं अपस्मार (मृगी) इन पाँच रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को प्रव्रज्या के अयोग्य माना जाता था । अंगहीन तथा विकृत अंग वाले को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी और न हिजड़ो, उभयलिंगियों अथवा मनुष्य देही पशुओं को । ऐसे ही राजसैनिक, ध्वज-बन्ध चोर(डाकू) काराभेदक चोर (जेल तोड़ने वाला) लिखितक चोर (नामदर्ज, जहाँ देखा जाय वहीं मारा जाय), कषाघात से दण्डनीय, लक्षणाहत (दागा हुआ), ऋणी एवं दास को भी प्रव्रज्या का अनधिकारी समझा जाता था। इन निषेधों का तात्पर्य स्पष्ट है। संघ में ऐसा कोई व्यक्ति प्रविष्ट नहीं होना चाहिए जो पहले से ही कानून के शिकंजे में जकड़ा हो और जिसके कारण समस्त

[15] गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ.111

[16] वही, पृ.111

संघ राजकोप अथवा अपकीर्ति का भागी हो। उपर्युक्त रोगियों, अपराधियों और असमर्थो के अतिरिक्त मातृघातक, पितृघातक एवं अर्हत् घातक, भिक्षुणी दूषक इन घोर पापियों को भी प्रव्रज्या का निषेध था। तथागत के रूधिरोत्पाद, संघभेदक एवं चोरी से संघ में प्रविष्ट व्यक्ति भी प्रव्रज्या के अयोग्य थे।"[17]

प्रारम्भ में बौद्धों की संन्यासदीक्षा तथागत की शरण लेने से ही सम्पन्न हो जाती थी जैसा कि पंचवर्गीय भिक्षु आदि के उदाहरण से स्पष्ट है। क्रमशः तथागत के किसी योग्य शिष्य को अपना उपाध्याय बनाकर और उसके निकट त्रिशरण गमन के द्वारा संन्यासदीक्षा सम्पन्न होने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक अल्पवय एवं अपरिपक्व भिक्षुओं के संघ में प्रवेश के कारण प्रव्रज्या और उपसम्पदा का भेद स्थापित हुआ और साथ ही उपसम्पदा के नियम में परिवर्तन हो गया। उपाध्याय के अतिरिक्त आचार्य का भी विधान हुआ। संघ में प्रवेशार्थियों की संख्या बढ़ने से और उनकी तथागत के अतिरिक्त अन्य भिक्षुओं के द्वारा दीक्षा सम्पन्न होने से इन परिवर्तनों का विधान युक्ति-युक्त प्रतीत होता है और इनकी आवश्यकता सम्भवतः तथागत के जीवन-काल में ही अनुभव गोचर हुई होगी।

स्त्री को भी प्रव्रज्या ग्रहण करने से पहले इन नियमों का पालन करना होता था। नियम विरूद्ध पाये जाने पर उन्हें प्रव्रज्या की अनधिकारी समझा जाता था। प्रव्रज्या ग्रहण करने पर स्त्रियाँ भी सिर मुँडवा कर चीवर धारण करती थीं। सांसारिक जीवन की तमाम रागपूर्ण चीजों का परित्याग कर पुरुष एवं स्त्री प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। थेरीगाथाओं का विश्लेषण करते हुए अगले अध्याय में हम इसे विस्तार पूर्वक उद्धृत करेंगे। यहाँ संक्षेप में यह बता देना आवश्यक है प्रव्रज्या ग्रहण करते समय क्या कुछ पीछे छूट जाता है। थेरी सुभा तथा संघा ने इस ओर

[17] गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ.112

इशारा किया गया जिससे ज्ञात होता है प्रव्रज्या ग्रहण करते समय बन्धु-बान्धव, रिश्तेदार कन्या, भाई, पति, दास, सेवक, खेत, ग्राम, पशु छूटने के साथ मालकिनों के लिए पानी भरने से लेकर ओखली, मसूर, धान कूटना, खाना बनाना सब छूट गया। इनसे ऊपर उठकर विकृति मनोवृत्तियों का परित्याग करते हुए ; यथा - द्वेष, अविधा, तृष्णा, जन्म-मरण, निर्वाण की ओर उन्मुख हुयी।

इन वस्तुओं और व्यक्तियों के परित्याग कि बात आते ही यह सवाल उठ खड़ा होता है क्या सभी का परित्याग करना उचित है ? यदि कुछ वस्तुओं का परित्याग किया जाना उचित है तो क्या उनका परित्याग समाज के भीतर रहकर किया जाना चाहिए या उनके परित्याग के साथ-साथ समाज को भी छोड़ देना चाहिए ? उदाहरण के लिए - दासत्व से मुक्ति के लिए, बहुपत्नी विवाह से मुक्ति के लिए समाज में रहकर उसका अंग बने रहकर प्रतिकार, प्रतिरोध, संघर्ष करना समाज के हित में है या समाज से ही मुक्ति पा लेना श्रेयस्कर है।

बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिए प्रव्रज्या सभी जातियों, वर्गों एवं देशवासियों के लिए सम्भव थी। यह गौतम बुद्ध के व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक था जिसमें किसी खास वर्ग, लिंग, क्षेत्र, भाषाभाषी के लिए निषेध नहीं था। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने वाली स्त्रियाँ विभिन्न कुलशील से आती थीं। जिसमें राजवंश की महिलाएँ, सामंती कुल से आगत स्त्रियाँ, ब्राह्मण वंश से आगत स्त्रियाँ, गृहपति (वैश्य) वंश से आगत स्त्रियाँ, गणिकावर्ग से आगत स्त्रियाँ, हीनवर्ग से आगत स्त्रियाँ थीं। इनमें से कुछ का नामोल्लेख करते हुए सामाजिक कुलशील की चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी।

पूर्व बौद्धकाल एवं बौद्धकालीन स्त्री शिक्षा :-

इस अध्याय की शुरूआत में हमने वैदिक कालीन स्त्री दशा एवं उत्तर वैदिक कालीन स्त्रियों की स्थिति पर संक्षेप में विचार किया । यहाँ हम कुछ साहित्यिक साक्ष्यों एवं ऐतिहासिक विवरणों के आधार पर वैदिक एवं उत्तरवैदिक कालीन स्त्री शिक्षा पर विचार करेंगे, उसके बाद बौद्ध कालीन समाज में स्त्रियों की शिक्षा की स्थिति कैसी थी इसे विस्तार से जानने की कोशिश करेंगे।

ऋग्वैदिक काल में केवल ऋग्वेद की रचना हुई और उत्तरवैदिक काल में यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का संकलन किया गया । इन तीन वेदों के अतिरिक्त इस काल में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् ग्रन्थों की भी रचना हुई।

"ऋग्वेद में 24 और अथर्ववेद में 5 वैदिक विदुषियों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इनके 422 मंत्र हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं- सूर्यासावित्री (47 मंत्र), घोषा काक्षीवती (28 मंत्र), सिकता निवावरी (20 मंत्र), इंद्राणी (17 मंत्र), दक्षिणा प्रजापात्या (11 मंत्र), अदिति (10 मंत्र), अपाला आत्रेयी (7 मंत्र), जुहू ब्रह्मजायो (7 मंत्र), विश्ववारा आत्रेयी (6 मंत्र), उवर्वी (6 मंत्र), सरमा देवशुनी (6 मंत्र), देव इंद्रमातरः (5 मंत्र), श्रद्धा कामायनी (5 मंत्र), नदी (4 मंत्र), गोधा (22 मंत्र), शाश्वती आंगिरसी (23 मंत्र), वसुक्रपली (24 मंत्र), ब्रह्मवादिनी (5 मंत्र)।

अथर्ववेद में इनके नाम इस प्रकार हैं- सूर्यासावित्री (139 मंत्र), इंद्राणी (11 मंत्र), देवजामयः (5 मंत्र) तथा सर्पराज्ञी (3 मंत्र)।"[18]

वेदों में नारी विषयक उक्तियाँ-

[18] जे. सी. अग्रवाल, भारत में नारी शिक्षा, पृ.9

"गृहिणी ही गृह है। ऋग्वेद 3-35-46

सुशील पत्नी गृहलक्ष्मी है। ऋग्वेद 10-3-5

नारी कुलपालक है। अथर्ववेद 1-14-3

नारी परिवार की स्वामिनी है। ऋग्वेद 10-85-46

नारी कुटुम्ब की पालक है। यजुर्वेद 14-2

स्त्री अबला नहीं सबला है। अथर्ववेद 20-16-9

नारी शील राष्ट्रीय रक्षा तथा कर्त्तव्य की खान है। अथर्ववेद 5-17-5"[19]

उपरोक्त उक्तियाँ वैदिक काल में स्त्री की सम्मानजनक स्थिति की ओर इशारा करती हैं। वहीं इसके समानान्तर भगवान सिंह अपनी किताब 'हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य' में वैदिक कालीन नारी जीवन पर अपना मत इस प्रकार रखते हैं- "सुदूर अतीत में स्त्रियों की स्थिति भले अच्छी रही हो, पर वैदिक काल तक स्त्रियों की स्थिति परवर्ती कालों से अच्छी नहीं रह गई थी। अन्य अनेक बातों से अच्छी नहीं रह गई थी। अन्य अनेक बातों की तरह नारी जाति पर प्रतिबन्ध और सामाजिक उत्पादन से उसे अलग करके सन्तान पैदा करने और पुरुष की विलासिता का साधन बनाने का तथ्य भी आर्थिक विषमता को प्रकट करता है। वैदिक काल में एक आदर्श पत्नी की स्थिति एक आज्ञाकारिणी दासी जैसी रह गई है।"[20]

भगवान सिंह आगे ऋग्वेद से उद्धरण देते हुए अपने मत को पुष्ट करते हैं- "स्त्री का मन चंचल होता है और बुद्धि भी छोटी होती है (8.33.17)। उसका विश्वास नहीं किया जा

[19] जे. सी. अग्रवाल, भारत में नारी शिक्षा, पृ.9
[20] वही, पृ.10

सकता (10.95.15) पति युक्त नारी ही अनिन्दनीय होती है (1.73.3)। सन्तान के रूप में केवल पुत्र की ही इच्छा व्यक्त की गई है (10.85.45)। पिता का प्रेम पुत्र के प्रति ही व्यक्त होता है (1.164.46.10.22.3)। विवाह के बाद स्त्री के पाँव घर में पड़ने के जल्द बाद यदि कोई अनिष्ट घटित हो जाता है तो उसका दोष भी उसी को दिया जाता था (10.85.43)। उससे परदा रखने की अपेक्षा की जाती थी (8.33.19) उसकी किसी कार्यदक्षता का उल्लेख नहीं आता, परन्तु कूटने (1.28.3-5), भूनने (9.112.3), सोम का रस निचोड़ने आदि श्रम कार्यों और घरेलू उपयोग के लिए कताई-बुनाई का (5.47.6) श्रृंगार बनाव (10.27.12) कामुकता (10.86.6) और सुन्दरता का जिक्र बार-बार आता है।...स्त्री पुरुष के लिए एक खेत के समान है जिसमें पुरुष बीज वपन करता है (10.85.37)।"[21]

वैदिक काल में वेद के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार सिर्फ सवर्ण जातियों तक सीमित था। इन सवर्ण वर्गों ने अपनी सुविधानुसार स्त्रियों को शिक्षित किया। जिसके कारण लाखों वैदिक सूक्तों में 422 स्त्रियों के नाम पर भी मिलते हैं। समाज के अन्य वर्ण के स्त्रियों की दशा शूद्रों के समान थी। शूद्र वर्ग की स्त्रियों पर उस प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे, क्योंकि इनके लिए श्रम जीवन जीने की अनिवार्य शर्त थी। उपरोक्त स्त्री विषयक उद्धरणों को देखने के बाद हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं जिस प्रकार कुछ स्त्रियों के नाम से वैदिक मन्त्र एवं सूक्त मिलने से वैदिक कालीन स्त्री दशा और शिक्षा की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है वैसा बिल्कुल नहीं था। स्त्रियों की दशा पुरुषों के बराबर थी यह केवल भ्रम है।

उत्तर वैदिक काल में नारी की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं रह गई थी। परन्तु कुछ विदुषी महिलाओं यथा मैत्रेयी और गार्गी, का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक काल में धीरे-धीरे नारी को शिक्षा के अधिकार से भी वंचित किया जाने लगा। "अथर्ववेद से आख्यात है,

[21] भगवान सिंह, हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति, पृ. 188

उत्तर वैदिक काल में कभी-कभी कन्या जन्म को दुःख का कारण समझा जाने लगा था। (9.9.1)। इसी प्रकार का उल्लेख हमें ऐतरेय ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है, जिसके अनुसार पुत्री सभी प्रकार के दुःखों की स्रोत है और पुत्र परिवार का रक्षक है (15)। मैत्रायणी संहिता में एक स्थान पर नारी को पासा एवं सुरा के साथ तीन प्रमुख बुराइयों में परिगणित किया गया है।"[22]

उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार, जिसके बिना कोई भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं माना जाता था, बन्द हो गया तथा वेद-अध्ययन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। नारी को लेकर इस प्रकार का भाव अविच्छिन्न रूप से बौद्ध युग तक विद्यमान रहा था जिसका उल्लेख थेरीगाथा में सोमा भिक्षुणी के उद्‌गार में मिलता है।

इस प्रकार बौद्ध युग के प्रारम्भिक काल तक स्त्री शिक्षा लगभग अवरूद्ध हो चुकी थी। नारी केवल गृहिणी तक ही सीमित रह गयी। घरेलू कार्यों में दक्षता भर हासिल कर लेने से उसके शिक्षा-दीक्षा की इति श्री मान ली जाती थी।

बौद्ध संस्कृति के विकास के साथ पुत्र एवं पुत्री के प्रति क्रमशः स्नेह एवं घृणासूचक भाव समाप्त होने लगे। दोनों को समान महत्व दिया गौतम बुद्ध ने। पुत्र को अत्यधिक महत्व प्रदान करने वाले कारणों को बौद्ध संस्कृति में मान्यता नहीं दी गई तथा दूसरी ओर कन्याओं में स्वाभिमान एवं स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न करने वाले सिद्धान्तों का प्रसार किया। "बुद्ध ने पुत्र को किसी भी प्रकार का धार्मिक महत्व नहीं दिया। बौद्ध धर्म में ऋण सिद्धान्त का उल्लेख नहीं है। अतः पितृऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र-प्राप्ति आवश्यक नहीं है।"[23]

---

[22] भगवान सिंह, हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति, पृ. 189

[23] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.11

बौद्ध आगम में कन्याएँ विवाह करने और न करने के विषय में अपने को स्वतन्त्र समझने लगी थीं तथा आजन्म अविवाहित रह सकती थीं ऐसा करते हुए वे किसी भी सामाजिक आक्षेप का अनुभव नहीं करती थी। विवाह अपनी इच्छानुसार करने के लिए स्वतन्त्र थीं।

कुल-कन्याओं को शिल्प और कला की शिक्षा देने की प्रथा नहीं थी। आगमों में पुत्र को तो कलाचार्य के पास भेजने के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु कन्या के सम्बन्ध में ऐसे उल्लेखों का अभाव है।

बौद्धागमों में इस प्रकार की शिक्षा के विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं जिसमें कन्याओं को यह सिखाया जाता था कि वे पति के पूज्य माता-पिता एवं श्रमण ब्राह्मणों का आदर करें तथा अभ्यागतों को आसन और उदक देकर सम्मानित करें। वह पति के माता-पिता के उठने के पूर्व ही उठकर घर के समस्त कार्यों को सम्पन्न कराने में सक्रिय सहयोग करे। सास, ससुर को प्रणाम कर उनके चरण स्पर्श करे। कुल के सभी सदस्यों के प्रति सम्मान एवं आत्मीयता प्रदर्शित करे पति के पोष्य एवं कर्मकारों के प्रति उचित व्यवहार प्रदर्शित करे। पति के आभ्यान्तरिक कार्यों में निपुणता एवं उसके द्वारा अर्जित धन के रक्षण में दक्षता दीखाए। पति के प्रत्येक कार्य को दासी के समान करे आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि घर के भीतर स्त्री की स्थिति सेविका के समान हैं जहाँ वह लोगों की आज्ञाएँ ढोती हुयी प्रतीत होती है। वह तमाम जिम्मेदारियों का निर्वहन तो करती है परन्तु उसमें ज्यादातर जिम्मेदारियाँ उसे सौंपी गई हैं। इन जिम्मेदारियों को सौंपते हुये कहीं भी उसकी इच्छा का ख्याल नहीं किया गया। आदेशात्मक तरीके से उससे काम लिया जाता है।

बौद्धकाल में गृहपत्नी को पति की भाँति पुनः धार्मिक अधिकार प्राप्त होने लगे थे जो उत्तरवैदिक काल में समाप्त हो गये थे । बौद्ध काल में जिस प्रकार गृहस्थावस्था में जीवन व्यतीत करते हुए पुरुष उपासक बन सकता था उसी प्रकार पत्नी के रूप में रहने वाली स्त्री भी उपासिका बनने लगी । सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से नारी को पुरुष के समकक्ष बताया जाने लगा परन्तु पत्नी को पति की निजी सम्पत्ति के रूप में भी व्यक्त किया गया है। यदि पति सांसारिक जीवन से विरक्त होकर प्रव्रज्या लेने की इच्छा करता था तो इसकी सूचना मात्र पत्नी को देता था। पति के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह अपनी पत्नी से प्रव्रज्या की अनुमति प्राप्त करे, जैसा स्वयं गौतम बुद्ध के जीवन से पता चलता है, परन्तु पत्नी को पति की अनुमति के बिना प्रव्रज्या नहीं दी जाती थी ।

बौद्धकालीन समाज में बहुपत्नीत्व की प्रथा का प्रचलन था। उस समय राजा की तो अनेक पत्नियाँ होती ही थीं, धनाढ्य व्यक्ति भी अधिक पत्नियाँ रखने में अपने वैभव की सार्थकता समझता था । साधारण व्यक्ति पत्नी के बन्ध्या होने पर द्वितीय पत्नी रख लेता था फलतः इन सपत्नियों के कारण परिवार में घोर अशान्ति का वातावरण रहता था । उदाहरण स्वरूप कलिंग राजा की पटरानी ने अपनी सपत्नी की हत्या के निमित्त उसके ऊपर अंगार फेंक दिये थे ।

बौद्ध आगमों में माता के प्रति अनेक सम्मानजनक उल्लेख मिलते हैं । कहा गया है कि दो जनों का प्रत्युपकार करना सहज नहीं है- माता का तथा पिता का अर्थात माता-पिता के उपकारों से उऋण होना अत्यन्त कठिन है । माता का पोषण करना उसको प्रसन्न रखना पुण्यकारक कृत्य था तथा उसे करने में भोगों का सदुपयोग माना जाता था ।

सामान्य स्त्री जीवन काल के विभिन्न स्तरों कन्या, पत्नी, माता के रूप में उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाता था। उसे किस प्रकार की सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल थी। उपरोक्त उद्धरणों से हम यह जान सकते हैं। अब हम स्त्री जीवन के परिचारिका वेश्या, गणिका रूपों के बारे में बौद्ध कालीन समाज को जानने की कोशिश करेंगे।

आत्मकालीन समाज में परिवार की स्त्रियाँ जीविकोपार्जन का भार नहीं वहन करती थीं। जिसका उल्लेख बौद्धायन स्मृति में इस प्रकार मिलता है-

"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥"[24]

यद्यपि यह कथन सामान्य नारी जीवन व्यतीत कर रही स्त्री के लिए सत्य है परन्तु सम्पूर्ण स्त्री जाति के लिए ठीक नहीं है, क्योंकि निर्धन, असहाय एवं सामाजिक व्यवस्था के कारण किसी परिवार विशेष की सदस्यता न ग्रहण कर पाने वाली स्त्रियाँ अपनी जीविका का उपार्जन स्वयमेव करती थीं। इन स्त्रियों में परिचारिका, गणिका, वेश्या प्रमुख थीं।

बौद्ध काल में वे सभी स्त्रियाँ जो आर्थिक, सामाजिक स्थिति से विवश होकर अन्य परिवारों के सदस्यों की परिचर्या करती थीं, परिचारिका कहलाती थीं। परिचारिकाओं में दासियाँ, दाईयाँ और मनोरंजन करने वाली स्त्रियाँ आती थीं। ये सभी स्त्रियाँ अपने स्वामी के घर हरकर अपनी सेवाएँ स्वामी के परिवार को अर्पित करती थीं। अपनी सेवाओं के बदले इन्हें जीवन-यापन के लिए अन्न और वस्त्र मिलता था। इनका जीवन परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा होता था। आमम कालीन सम्पन्न परिवारों में दास-दासियाँ रखने का प्रचलन था और इन दास-दासियों को भोग्यवस्तु समझा जाता था। दासियों पर स्वामी का पूरा अधिकार होता

[24] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.31

था। उन्हें खरीदा बेचा और दान दिया जाता था। दास-दासियों को बौद्ध संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता था। दासत्व से मुक्ति के बाद ही उन्हें बौद्ध संघ में प्रवेश मिलता था।

प्राचीन काल में राज परिवारों एवं वैभव सम्पन्न कुलों में नवजात-शिशु के संरक्षण एवं पालन के हेतु दाइयाँ नियुक्त की जाती थीं। दाइयों का स्तर दासियों से उन्नत था। आगम कालीन समाज में कुछ परिचारिकाएँ ऐसी थीं जिनका काम स्वामी का मनोरंजन करना होता था। गौतम बुद्ध के गार्हस्थ जीवन से इसका उल्लेख मिलता है। ये परिचारिकाएँ विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्रों एवं नृत्य द्वारा स्वामी का मनोरंजन करती थीं।

नारी समाज में आजीविकोपार्जन करने वाला दूसरा वर्ग गणिका का था। सामान्यतया यह माना जाता है कि गणिका और वेश्या में कोई अन्तर नहीं है। पालि-इंग्लिश डिक्शनरी में दोनों शब्दों का अर्थ इस प्रकार है- "राजकीय स्तर की सामान्य स्त्री जिसे अनेक वैभव सम्पन्न व्यक्ति भोगा करते थे, गणिका कहलाती थी तथा सामान्य जनों द्वारा भोगी जाने वाली स्त्री को वेश्या कहा गया है। बौद्ध युग में गणिका एवं वेश्याओं के बीच पर्याप्त अन्तर विद्यमान था।"[25]

"उत्तरवैदिक काल के बाद महाजनपदों का युग प्रारम्भ हुआ था। जिसका समय ईसा पूर्व सातवीं-आठवीं सदी था। आगामों में जिन जनपदों का उल्लेख मिलता है उनमें सोलह प्रमुख थे। इनमें से मल्लि एवं वज्जि नामक दो जनपदों में गणतन्त्र राज्य स्थापित था। गणिका का उद्‌भव इन्हीं गणराज्यों में हुआ था।"[26]

अम्बपाली बौद्ध युग की पहली गणिका थी। गणिका वह स्त्री होती थी जो गणराज्य के सभी राजाओं की पत्नी बनकर रहती थी। उसे गणराज्य की सम्पत्ति समझा जाता था

[25] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.146
[26] वही, पृ.146

जिसका उपभोग करने का अधिकार सभी राजाओं को था । राजगृह में सरस्वती नामक गणिका थी । गणिका, आकर्षक बनाव श्रृंगार करके गणराजाओं का मनोरंजन करती थी । अतः गणिका को नृत्य गीत एवं वाद्य में दक्ष होना जरूरी था । गणिकाओं की आय का प्रमुख साधन उनका शुल्क था जिसे राज्य निर्धारित करता था । उदाहरणस्वरूप अम्बपाली गणिका का प्रतिरात्रि 50 कार्षापण शुल्क था । सालवती का शुल्क 100 कार्षापण था । गणिका सदैव वैभव सम्पन्न रहती थी । गणिका के पास रहने का मकान तथा विहार के लिए उद्यान आदि अचल सम्पत्ति रहती थी जिस पर गणिका का पूरा अधिकार होता था इस बात की सूचना अम्बपाली द्वारा बौद्ध संघ को दान में दिये गये उद्यान से होती है । बौद्ध काल में गणिकाओं को समाज में उचित सम्मान मिलता था ।

आगमकालीन समाज में वेश्याओं को भी अपनी आजीविका का उपार्जन स्वतः करना पड़ता था । बौद्धकालीन समय में गणिका वर्ग से वेश्यावर्ग भिन्न था । वेश्याएँ साधारण मनुष्यों की कामपिपासा की तृप्ति का प्रमुख साधन थीं । वेश्याओं को गणिकाओं की भाँति सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त होती थी । वेश्याओं का अत्यधिक सुन्दर होना जरूरी नहीं था न ही उन्हें नृत्य, गीत-संगीत, वाद्य आदि में निष्णात होना जरूरी था । उन्हें सिर्फ शरीर का वेशभूषा एवं अलंकार के माध्यम से उत्तेजक श्रृंगार करना था जिससे पुरुष कामोत्तेजित हो जाय । गणिका की तुलना में वेश्या की आर्थिक स्थिति कमजोर रहती थी क्योंकि उनका सम्बन्ध निम्नवर्ग के मनुष्यों से रहता था, जो खुद आर्थिक दृष्टि से विपन्न थे । समाज में वेश्या गमन त्याज्य था । उसे सामाजिक वैधता हासिल नहीं थी । वेश्याओं को संघ में प्रवेश की अनुमति थी । यदि वेश्या संघ में प्रविष्ट होना चाहती थी तो पहले उसे उपासिका के रूप में रहकर धर्माचरण के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करनी होती थी । फिर उसे भिक्षुणी बनाया जा सकता था।

इस प्रकार बौद्ध कालीन स्त्री दशा पर विचार करते हुए हमने स्वतः आजीविकोपार्जन करके जीवन व्यतीत करने वाली स्त्रियों परिचारिका, गणिका, वेश्या के जीवन एवं उनकी स्थिति का विश्लेषण किया। अब हम बौद्ध कालीन स्त्री शिक्षा की दशा पर विचार करेंगे।

बौद्ध कालीन समाज में शिक्षा का प्रधान उद्देश्य आजीविकोपार्जन करना मात्र था। अतः पुत्र को शिक्षा देने के लिए उसके माता-पिता सदैव सतर्क रहते थे। इन शिक्षाओं में शिल्प और कला की शिक्षा प्रमुख थी। अतः पुत्र को उक्त शिक्षा प्राप्त करने के लिए कलाचार्य के पास भेजा जाता था। पुत्री के लिए इस प्रकार की शिक्षा इसलिए आवश्यक नहीं समझी जाती थी, क्योंकि उसे जीविकोपार्जन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती थी। जीविकोपार्जन को छोड़कर अन्य किसी प्रयोजन से शिक्षा नहीं दी जाती थी।

भिक्षुणी संघ में स्त्रियों को शास्त्रीय शिक्षा दी जाती थी। शास्त्रीय शिक्षा के प्रति नर-नारी तभी अनुरक्त होते थे जब उन्हें सांसारिक जीवन दुःखमय लगने लगता था। शास्त्रीय शिक्षा का द्वार नर-नारी दोनों के लिए समान रूप से खुला हुआ था।

चूँकि नारी की शास्त्रीय शिक्षा का प्रधान साधन भिक्षुणी-संघ था, अतः यह कहा जाता है कि बौद्ध और जैनयुगीन भिक्षुणी संघ से नारी-शिक्षा को प्रश्रय मिला था। थेरीगाथा का अध्ययन करने पर इस बात की पुष्टि होती है। जिस प्रकार से थेरियों ने अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं उनमें जिस प्रकार से आत्माभिव्यंजकता, गीतात्मकता और कलात्मक सौष्ठव है उसे देखकर लगता है कि वे भिक्षुणी संघ में रहते हुए शास्त्रीय शिक्षा ग्रहण करती थी। भिक्षुणियों को शास्त्रीय शिक्षा इसलिए भी दी जाती थी कि वे सांसारिक भोगों के प्रति आकृष्ट न हों तथा संघ की मान-मर्यादा की रक्षा कर सकें। भिक्षुणी संघ ने नारी-सामान्य में शिक्षा प्रसार के हेतु कोई

विशेष कार्य नहीं किया। भिक्षुणी संघ में सिर्फ उन नारियों को शिक्षा उपलब्ध होती थी जो गृहत्याग करके सांसारिक जीवन से विरक्त हो जाती थीं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गौतम बुद्ध ने भिक्षु संघ की स्थापना के पाँच वर्ष बाद भिक्षुणी संघ की स्थापना करके 'स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं है' के सिद्धांत को व्यवहार रूप में प्रतिफलित करने की कोशिश की। यद्यपि भिक्षुणी संघ के कठिन नियम-विधानों के चलते संघ में भी भिक्षुणियों की स्थिति समाज के समान ही दूसरे पायदान की रही तथापि स्त्रियों के लिए संघ के दरवाजे खुलने से उनकी भी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ और पितृसत्ता का एकात्मक वर्चस्व टूटा।

तृतीय अध्याय

थेरगाथाएं और थेरीगाथाएं : कथ्य एवं संवेदनागत ; अन्तर / वैशिष्ट्य

"ये दोनों ही ग्रन्थ, खुद्दकनिकाय में परिगणित 15 ग्रन्थों में अतिशय महत्वपूर्ण हैं। आचार्य बुद्धघोष ने इन दोनों ग्रन्थों का खुद्दकनिकाय ग्रन्थ समूह में अष्टम् एवं नवम् स्थान निर्धारित किया है। इन दोनों ग्रन्थों में क्रमशः बुद्धकाल के भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के पद्यबद्ध जीवन संस्मरण हैं।"[1]

"थेरगाथा में 264, (द्वे सत्ता सट्ठि चत्तारो च) भिक्षुओं के उद्गार हैं, जबकि थेरीगाथा में 73 भिक्षुणियों के। थेरगाथा में 1279 गाथाएँ (पालि श्लोक) हैं, जो 21 निपातों (वर्गों) में विभक्त हैं। थेरीगाथा में 522 (किन्हीं-किन्हीं संस्करणों में 524) गाथाएँ हैं जो 16 निपातों में विभक्त हैं।"[2]

दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि थेरीगाथा ग्रन्थ, थेरगाथा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस ग्रन्थ में भिक्षुणियों की आत्मीयता और यथार्थवादिता अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जबकि थेरगाथा में आध्यात्मिक जगत की बहुलता एवं सुरम्य प्राकृतिक वर्णनों की अधिकता है।

थेरगाथा में अंतर्जगत के अनुभावों की बहुलता है। जबकि थेरीगाथा में वैयक्तिक अनुभवों का वर्णन प्रधान है। दोनों ही ग्रंथों में जीवन के करुण पक्ष के अनुभव की अधिक

---

[1] प्रधान सम्पादक एवं अनुवादक-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.20

[2] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.316

अभिव्यक्ति है। फिर भी वहाँ निराशा का भाव नहीं है। दोनों ने बुद्ध शासन का आश्रय ग्रहण कर उस गम्भीर, उदात्त एवं शांत सुख का स्पर्श किया है, जो जीवन की विषमताओं और कटुताओं को धो डालता है और उन पर मनुष्य की विजय का सूचक बनता है।

किसी-किसी भिक्षु के शब्दों में नारी के प्रति विरक्ति का भाव भी है। इसी प्रकार अनेक भिक्षुणियों ने भी पुरूष के द्वारा उन पर किये गये अत्याचारों का दुःख पूर्वक स्मरण किया है।

भिक्षुओं का आधिभौतिक जीवन एवं थेरगाथा:-

थेरगाथा की विशेषताएँ जानने के लिए इस में प्रतिपादित भिक्षुओं के संवादों पर गहन विचार आवश्यक है। भिक्षुओं के सभी संवादों पर विचार करना उनका विश्लेषण करना कठिन है परन्तु कुछ महत्वपूर्ण संवादों के विश्लेषण द्वारा एक निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है। "थेरगाथा में जिन अर्हत् भिक्षुओं के स्वकथन आए हैं, वे सभी महात्मा बुद्ध के समकालीन हैं। उन्होंने बुद्ध के पास शिक्षा ग्रहण की और अपने जीवन के लक्ष्य को पूरा किया है। थेरगाथा बुद्ध के आर्य मार्ग पर चलने वाले भिक्षुओं के स्वाभाविक उदान या सहजोद्गार है।"[3] अर्हत् भिक्षु अपने जीवनानुभवों को व्यक्त कर रहे थे और तथागत बुद्ध के धम्म को अपना कर उन्होंने अपने जीवन में क्या-क्या पाया इस बात को बहुत विजयी भाव में मुक्तस्वरों में व्यक्त कर रहे थे। थेरगाथा में प्रत्येक भिक्षु अपने भीतर के आसवों, विकारों और अज्ञान को नष्ट करने की ही बात करता है।

[3] अनु. एवं संपादक डॉ. धर्मकीर्ति, थेरगाथा, पृ.5

कोई भी भिक्षु धन-धान्य एवं भौतिक सुख की कामना करते हुए दिखाई नहीं पड़ता है और न ही स्वर्ग की कामना करता है। बल्कि जीवन मुक्ति, विकारों, आसवों से मुक्ति की बात करता है। तीनों विद्याओं को प्राप्त करने की बात करता है। थेरगाथा से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध के धम्म दर्शन के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? बुद्ध के धम्म और दर्शन के अनुसार मनुष्य के जीवन का उद्देश्य सुख पाना, आनंद पाना नहीं बल्कि सभी आसवों से मुक्ति पाना है। बुद्ध के धम्म दर्शन के अनुसार मुक्ति का रास्ता भक्ति, धार्मिक पाखंड, कर्मकांड, पूजापाठ, होम-हवन यज्ञ में नहीं है, बल्कि तीनों विद्याओं को प्राप्त करने में ही है। इसमें बुद्ध ने प्रज्ञा के रास्ते को ही महत्व दिया है। बौद्ध धम्म और दर्शन में प्रश्नोत्तर एवं तर्क के माध्यम से जीवन-जगत सम्बन्धी समस्याओं का हल ढूँढ़ने की कोशिश की गई है। उन पर परिचर्चा तथा संवाद किया गया है। थेरीगाथा तथा थेरगाथा भी उसी श्रृंखला के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जहाँ बौद्ध ग्रन्थों के अनुशीलन, कठोर जीवनाभ्यास एवं ठोस यथार्थ के आधार पर भिक्षु-भिक्षुणियों ने सहजोद्गार प्रकट किये।

माणव नामक स्थविर अपनी प्रव्रज्या ग्रहण की वास्तविकता बताते हुए कहते हैं –

“जिण्णञ्च दिस्वा दुक्खितञ्च ब्याधितं, मतञ्च दिस्वा गतमायुसङ्खयं।

ततो अहं निक्खमितून पब्बजिं पहाय कामनि मनोरमानि।”[4]

"मैंने वृद्ध दुःखी व्याधि से मारे हुए, समाप्त-आयु संस्कार वाले पुरूष को इन आँखों से देखा। बस, इन (दुःखों) से निष्क्रमण के लिए मैंने सारे मनोरम भोगों को छोड़कर प्रव्रज्या ले ली।"

स्थविर वीतशोक का अनुभव भी मार्मिक है, वे कहते हैं -

[4] अनु. एवं संपादक डॉ. धर्मकीर्ति, थेरगाथा, पृ.74

"केसे मे ओलिखितस्सन्ति कप्पको उपसङ्क्मि।

ततो आदासमादाय सरीरे पच्चवेक्खिस ॥

तुच्छो कायो अदिस्सित्थ अन्धकारो तमोब्यगा।

सब्बो चोला समुच्छिन्ना नत्थि दानि पुनब्भवोति ॥""[5]

मेरे बाल बनाने के लिए नाई मेरे पास आया। उसके हाथ से दर्पण लेकर मैं अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण करने लगा। काया की तुच्छता को मैंने देखा। मेरा अंधकार वहीं विदीर्ण हो गया। सारे चोले (वस्त्र, शरीर) ही समुच्छिन हो गये। (अब मुझे कोई शरीर धारण करना नहीं है।) अब मेरे लिए पुनर्जन्म होना नहीं है।

एक विषयी पुरुष बुद्ध के उपदेश सुनकर किस प्रकार प्रव्रजित हो गया यह स्थविर नन्द के शब्दो में सुनिये -

"अयोनिसो मनसिकारा मण्डनं अनुयुज्जिसं।

उद्धतो चपलो चासिं कामरागेन अट्टीतो।

उपाय कुसलेनाहं बुद्धेनादिच्चबन्धुना।

योनिसो पटिपज्जित्वा भवे चित्ते उदब्बहिं ॥"[6]

बुरे चिन्तन में लगा हुआ मैं पहले इस काया के श्रृंगार साधन में लगा रहता था। मैं उद्धत था, चपल था एवं काम वासना से बुरी तरह व्यथित था। सौभाग्यवश आदित्यबन्धु भगवान बुद्ध

[5] अनु. एवं संपादक डॉ. धर्मकीर्ति, थेरगाथा, पृ.134

[6] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.317

ने जो मेरे जैसों का उपाय करने में कुशल हैं। अपने उपदेश से मुझे सत्पथ पर लगा दिया। अब संसार से मेरा चित्त अनासक्त हो चुका है।

स्थविर सिरिमा का संसार के प्रति गम्भीर अनासक्ति भाव देखिये -

"परे च नं पसंसत्ति अत्ता चे असमाहितो।

मोघं परे पसंसत्ति अत्ता हि असमाहितो॥

"परे च नं गरहन्ति अत्ता चे ससमाहितो।

मोधं परे गरहन्ति अत्ता हि सुसमाहितो॥"[7]

चित्त समाधि मग्न नहीं है और दूसरे इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि चित्त समाधि मग्न नहीं है तो दूसरों की प्रशंसा व्यर्थ है। चित्त अच्छी प्रकार समाधि मग्न है और दूसरे इसकी निन्दा करते हैं। यदि चित्त अच्छी प्रकार समाधिमग्न है तो दूसरे की निन्दा व्यर्थ ही है।

थेरगाथा के अध्ययन के बाद इस की दो विशेषताएं स्पष्टतः ध्यान में आती हैं-

1. भिक्षुओं के आन्तरिक (आध्यात्मिक) अनुभव का वर्णन।

2. भिक्षुओं का प्रकृति दर्शन।

भगवान बुद्ध इतिहास के प्रथम पुरुष हैं। जिन्होंने बहुजन हित को अपने धर्म का आधार बनाया। इस बहुजन हित की परिधि में शूद्र भी आते हैं बल्कि उन्हीं के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया। व्यापक समाज कल्याण को ध्यान में रखते हुए महात्मा बुद्ध ने सिर्फ

[7] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.318

धर्मोपदेश ही नहीं दिये बल्कि उसे समाज निर्माण का आधार भी बनाया। वैदिक युग में जिस शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था, न यज्ञ करने का अधिकार था ; वही अब बौद्ध संघ में अर्हत् पद प्राप्त करने का अधिकारी था। इस प्रकार महात्मा बुद्ध चतुवर्णी शुद्धि के रूप में भारत में सर्वप्रथम मानवता को स्थापित करने वाले महापुरूष हैं। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई जातिगत भेद नहीं है इसे दिखाने के लिए वासेट्ठ-सुत्त वैज्ञानिक आधार है। बुद्ध ने ढाई हजार वर्ष पूर्व अस्सलायण सुत्तन्त के रूप में मानव अधिकारों का घोषण-पत्र तैयार किया ; वह आज भी विचारणीय है। स्वभावतः समाज के पीड़ित और पद-दलित निचले स्तर को जो किसी न किसी प्रकार अपमान और शोषण का शिकार रहा है, बौद्ध धर्म ने सदा एक अतुलनीय आश्वासन दिया है। जाति (जन्म) और वर्ण (रंग) की बाधा दूर कर सदा उसने उसके लिए ज्ञान के मार्ग को खोलने का प्रयत्न किया है। बौद्ध धर्म सामाजिक जीवन के प्रश्नों का समुचित हल देने के बाद पारलौकिक जीवन की ओर उन्मुख होता है। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के उद्‌गार सहज ही इस ओर इशारा करते प्रतीत होते हैं। भिक्षुओं ने संस्कारों की अनित्यता को देखकर सांसारिक जीवन से वैराग्य लिया है। चित्त की शान्ति ही उनके लिए सबसे बड़ा सुख है। जीवन के प्रति न उनमें उत्सुकता है और न विषाद। किसी की आकांक्षा भी नहीं, किसी वस्तु से द्वेष भी नहीं। वे केवल शांत और गंभीर हैं। अनासक्ति उनके जीवन का प्रमुख लक्षण है। जिन्होंने विषयों को वमन के लिए छोड़ दिया है। सुख दुःख जिनके लिए अर्थहीन हो गये हैं। ऐसे साधकों की मानसिक दशाओं का उल्लेख थेरगाथा में मिलता है।

धर्मसेनापति आर्य सारिपुत्र भिक्षु जीवन के इस आदर्श को इन शब्दों में प्रकट करते हैं-

"नाभिनन्दामि मरण नाभिनन्दामि जीवितं।

निक्खिपिस्सं इमं कायं सम्पजनो परिस्सतो॥

नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीविंत।

कालं च पटिकङ्खामि निब्बिस भतको यथा ॥"[8]

न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा। ज्ञानपूर्वक सावधान हो स्मृतिपूर्वक मैं इस काया को रख दूँगा। न मुझे मरने की इच्छा है न जीने की अभिलाषा है। मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। काम करने के बाद अपनी मजदूरी पाने की प्रतीक्षा करने वाले दास के समान मैं अपने समय की बाट देख रहा हूँ।

बौद्ध भिक्षु अपनी धर्मसाधना में नारी को सहचारिणी का दर्जा नहीं देते थे। वे उन्हें कामिनी मानते थे। नागसमाल थेर के ये उद्‌गार द्रष्टव्य हैं -

"अलङ्कता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा।

मज्झे महापथे नारी तुरीये नच्चति नट्टकी।

पिण्डिकाय पविट्ठोहं गच्छन्तो नं उदिक्खिसं।

अलङ्कतं सुवसनं मच्चुपासं व ओड्डितं ॥

ततो मे मनसीकारो योनिसो उदपज्जथ ॥"[9]

किसी राजपथ के चौराहे पर कोई सुन्दर आभूषण, वस्त्र एवं मालाएँ पहनी हुई नर्तकी नृत्य एवं गायन कर रही थी। शिक्षा के लिए जाते जाते हुए मैंने उस स्त्री को उस रूप में देखा। उस को देख कर उसके प्रति मेरे मन में कल्पना हुई कि यह तो साक्षात् मृत्यु ही इन सुन्दर

[8] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.22

[9] अनु. एवं संपादक डॉ. धर्मकीर्ति, थेरगाथा, पृ.179

आभूषणों एवं वस्त्रों से सज्जित होकर नाच रही है। तब मैंने अपने मन में सूक्ष्मता से विचार किया और मुझ को तत्काल उसके प्रति ग्लानि हो गयी।

स्त्री के रूप आदि की आसक्ति को भिक्षुओं ने सभी दुःखों का कारण माना है। पारापरिय स्थविर कहते हैं -

"इत्थिरूपे इत्थिसरे फोट्टब्बे पि च इत्थिया।

इत्थिगन्धेसु सास्तो विविधं विन्दते दुःखं॥"[10]

जो पुरूष स्त्री से सम्बद्ध रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्प्रष्टव्य विषयों में अनुरक्त रहता है, वह नाना प्रकार से दुखों का ही भागी होता है।

इतना ही नहीं उन साधक भिक्षुओं ने स्त्री शरीर के साथ-साथ अपने शरीर में भी अशुभ भावना की है। कुल्य स्थाविर कहते हैं -

"धम्मादासं गहेत्वान ञाणदस्सनपत्तिया।

पच्चवेक्खिं इमं कायं तुच्छं सत्तरबाहिरं॥"[11]

मैंने ज्ञानमय दृष्टि प्राप्त करने हेतु धर्मरूप दर्पण का आश्रयण कर अपने इस काया को देखा तो यह भी मुझ को अशुभ एवं अन्दर और बाहर दोनों ही स्थानों में निःसार दिखाई दिया।

भिक्षुओं का जाति के सम्बद्ध में मत :-

[10] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.23
[11] वही, पृ.24

महात्मा बुद्ध ने सर्वप्रथम भारत में चतुवर्णी शुद्धि के तहत् शूद्र वर्ण को भी प्रव्रज्या और निर्वाण का अधिकारी बताया। जिसका प्रभाव भिक्षुओं की जाति सम्बन्धी मान्यताओं पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं ने भी अपने उद्‌गार में जाति व्यवस्था के सर्वथा विनष्ट होने की बातें कही हैं। जेन्त स्थविर अपने जीवन अनुभव इस प्रकार बताता है कि वह भिक्षु होने से पूर्व एक राजपुरोहित का पुत्र था और वह जाति एवं ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त था। परन्तु अब बुद्धोपदिष्ट साधना से उसके चित्त का अभिमान एवं जाति, ऐश्वर्य आदि का मद खत्म हो चुका है तथा वह प्रसन्न और शान्त है। वह कहता है -

"जातिमदेन मत्तो हं, भोग-इस्सरियेन च।

सण्ठान-वण्णरूपेन, मदमत्तो अचारिहं ॥विग

अतिमानो च ओमानो पहीना सुसमूहता ॥

अस्मिमानो समुच्छिन्नो सब्बे मानविधा हता ॥"[12]

मैं पहले गृहस्थाश्रम में जातिमद, भोगमद, ऐश्वर्यमद, शरीरमद एवं रूपमद से उन्मत्त होकर लोक में विचरण करता था।... परन्तु भगवान बुद्ध के दर्शन के बाद उनके उपदेश से अब मेरे मान, अतिमान, अतमान आदि पूर्णतः विनष्ट हो गये। शरीर के प्रति मेरा अहंकार भी विगलित हो गया। इस प्रकार मेरे सभी मान-मद समूल नष्ट हो गये।

इसी प्रकार कालिगोधा पुत्र भद्दिय स्थविर ने अपने राजस जीवन का अनुभव इस प्रकार विस्तार पूर्वक सुनाया है -

[12] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.24

"यातं मे हत्थिगीवाय सुखुमा वत्था पधारिता।

सालीनं ओदनो भुत्तो सुचिमंसूपसेचनो॥

सोज्ज भाद्दो सातातिको उच्छायन्तागतेरतो।

झायति अनुपादनो पुत्तो गोधाय भद्दियो॥

उच्चे मण्डलिपाकारे दक्कहमट्टलकोट्ठके।

शक्खितो खग्गहस्त्थेहि, उन्तमं विहरिं पुरे॥

सोज्ज भद्रो अनुत्तासो पहीन भय भेरवो।

झायति वनमोगय्ह पुत्तो गोधाय भद्दियो॥"[13]

मैं पहले महीने में सूत से बने कपड़े पहनकर हाथी की पीठ पर सवारी करता था और स्वादिष्ट मांस के साथ थाली का भात खाता था। आज भद्र तैयार पात्र में मिली भिक्खा से संतोषी गोधाय का बेटा भद्दिय आसक्ति होकर ध्यान रत है। पंसकूल से बने चीवर को पहनकर संतुष्ट होकर गोधाय को बेटा भद्दिय आसक्ति होकर ध्यानरत है।

इसके ठीक विपरीत एक हीन कुल में उत्पन्न भिक्षु सुनीत स्थविर की जीवन कथा इस प्रकार है-

"नीचे कुलम्हि जातोहं दलिद्दो अप्पभोजनो।

हीनं कम्मं ममं आसि अहोसि पुप्फछड्डको॥

[13] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.24

जिगुच्छितो मनुस्सानं परिभूतो च वम्भितो।

नीचं मनं करित्वान वन्दिस्सं बहुकं जनं॥

अथद्दसासिं सम्बुद्धं भिक्खुसंघपुरक्खतं।

पविसत्तं महावीरं मगधानं पुरुत्तमं॥

वन्दित्वा सत्थुनो पादे एकमत्तं ठितो तदा।

पब्बज्जं अहमायाचिं सब्बसत्तानमुत्तमं॥

ततो कारूणिको सत्था सब्बालोकानुकम्पको।

एहि भिक्खू ति मं आह सा मे आसूपसम्पदा।

सोहं एको अरञ्ञास्मिं विहरन्तो अतन्दितो।

अकासि सत्युवचनं यथा मं ओवदी जिनो।

ततो रत्त्य विवसाने सुरियस्सुग्गमनं पति।

इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा मं नमास्सिसु पञ्जलि॥"[14]

मैं गरीब भोजनहीन अछूत जाति में पैदा हुआ। मेरा काम हीन था मैं कूड़ा करकट फेंकता रहा। मैं मनुष्यों द्वारा घृणित हो गया। अपमानित हुआ और तिरस्कृत हुआ। विनम्र मन से मैंने कई लोगों की वन्दना की। तब मैंने भिक्खुसंघ के साथ सम्यकसम्बुद्ध को महावीर

[14] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.25

बुद्ध को मगधों के उत्तम नगर में जाते देखा। झाड़ू को छोड़ वन्दना के लिए मैं उनके पास पहुँचा।

पुरुषोत्तम मुझपर अनुकम्पा करके वहीं खड़े हो गये। तब शास्ता के चरणों की वन्दना कर मैं एक ओर खड़ा हो गया। सभी जीवों में उत्तम बुद्ध से मैंने प्रव्रज्या के लिए विनती की। तब सर्वलोकानुकम्पक कारुणिक शास्ता बुद्ध ने मुझसे कहा भिक्खु ! आओ और वहीं मेरी उपसम्पदा हुई। मैंने अकेले अप्रमादी होकर वन में रहकर जैसा बुद्ध ने मुझे उपदेश दिया था, वैसा ही शास्ता के वचनों को पूरा किया। रात के बीतने पर सूरज की रोशनी चमकते ही इंद्र और ब्रह्मा ने आकर दोनों हाथ जोड़कर इस तरह मेरी वन्दना की।

इन दोनों बौद्ध भिक्षुओं भद्दिय और सुनीत स्थविर के उद्गारों से साफ स्पष्ट होता है कि बौद्ध संघ का दरवाजा समाज के हर तबके के व्यक्तियों के लिए खुला हुआ था। इन उद्गारों के माध्यम से देखा जा सकता है तत्कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था किस कदर हावी थी और जाति के अनुसार कर्मों का बँटवारा कितना दृढ़ था। सुनीत स्थविर की पहली ही पंक्ति है- मैं गरीब भोजनहीन अछूत जाति में पैदा हुआ हूँ। वहीं स्थविर भद्दिय कहते हैं- मैं पहले महीने में सूत के बने कपड़े पहनकर हाथी की पीठ पर सवारी करता था और स्वादिष्ट मांस के साथ थाली का भात खाता था। दोनों की जीवन दशाओं और जीवनशैली के बीच की खाई यह बताती है कि समाज में किस प्रकार आर्थिक विषमता, संसाधनों पर वर्चस्वशाली जातियों का कब्जा और छूआछूत जैसी कुरीति मौजूद थी। जिसे बुद्ध ने अपने संघ में सबको समान अधिकार देकर समाज में अपने उपदेश के माध्यम से दूर करने की कोशिश की।

भिक्षुओं का आध्यात्मिक जीवन :-

भिक्षुओं के कुल-जाति, भोग-ऐश्वर्य के मद को त्यागने के बाद साधना पथ पर आन्तरिक जीवन का जो आस्वाद ग्रहण किया उसका एक अनूठा चित्र हमें स्थविर तालपुट के आत्मोद्गार में मिलता है -

"रोपेत्था रूक्खानि यथा फलेसी मूलें तरूं छेत्तुतमेव इच्छासि।

तथूपमं चित्तमिदं करोसि यं मं अनिच्चम्हि चले नियुज्जासि॥

सब्बत्थ ते, चित्त वचो कतं मया बहूसु जातीसु न मे सि कोपितो।

अञ्ञत्तसम्भवो कतञ्ञुताय ते दुक्खे चिरं संसारतिं तया कते॥

त्वञ्ञेव नो चित्त करोसि ब्राह्मणो त्वं खत्तियो राजदसी करोसि॥ ?

वेस्सा च सुद्दा च भावाम एकदा, देवत्तनं वा पि तवेव वाहसा॥

तवेव हेतू असुरा भवाम से त्वम्मूलकं नेरयिका भवामसे।

अथो तिरच्छानगतापि एकदा पेतत्तनं वा पि तवेव वाहसा॥

धितिप्परं किं मम चित्त कहिसि न ते अलं चित्त वासनुवत्तको।

न जातु भस्तं उभतोमुखे छुपे घिरत्थु पुरं नवसोतसन्दिनिं॥"[15]

रे चित्त ! तुम मुझको इन अनित्य एवं विनाशी धर्मों की ओर प्रवृत्त कर वही कर्म कराने जा रहे हो, जैस किसी वृक्ष से फल चाहने वाला कोई मूर्ख उस वृक्ष के मूल पर ही प्रहार करने लगे।

[15] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.26

रे चित्त ! मैंने तुम्हारा कथन सभी पूर्वजन्मों में सर्वदा स्वीकार किया था, तब तो तुम मुझ पर कुपित नहीं हुए। मैनें तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए तुम्हारे कथनानुसार सब कुछ किया जिस कारण यह संसरण (गमनागमन) करते हुए बहुत समय तक अनेक कष्ट भोगे हैं।

रे चित्त ! तुमने ही कभी ब्राह्मण बनाया, कभी क्षत्रिय बनाकर राजसिहांसन तक पहुँचाया। तुम्हारे ही कारण मैं कभी वैश्य बना, कभी शूद्र। यहाँ तक ही तुम्हारे कारण मुझको देवत्व प्राप्त हुआ।

रे चित्त ! कभी तुम्हारे कारण मैं पशुयोनि में गया और कभी मुझको तुम्हारे ही कारण प्रेत भी बनना पड़ा।

रे चित्त ! अब तू मुझको धैर्यविहीन कर मेरा क्या करना चाह रहा है ? मैं अब तेरे वश में नहीं रह सकता। न तेरा अनुगमन कर सकता हूँ लोक में जब दो मुख वाली भस्त्रा का कोई विश्वास नहीं करता तब मेरा यह शरीर तो नौ द्वार वाला है। अतः तेरा कौन विश्वास करे। तेरे लिए तो धिक्कार शब्द का प्रयोग ही उचित ज्ञात होता है।

"कदा नु हं दुब्बचनेन वुन्तो ततो निमित्तं विमनो न हेस्सं।

अथो पसत्थो पि ततोनिमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा में॥"[16]

कब मैं इस उदात्त स्थिति में पहुँचुगा कि मैं अपने लिए विरोधियों द्वारा प्रयुक्त दुर्वचनों को सुन कर भी उनके कारण दुःखी न होऊँगा तथा इसी प्रकार अपनी प्रशंसा में प्रयुक्त मधुर वचनों से भी प्रमुदित न होऊँगा।

[16] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.27

सानु नामक स्थविर उसे प्रव्रजित देखकर रोती हुयी अपनी माता को अकाट्य तर्कों से सात्त्वना देता हुआ समझाता है -

"मतं वा अम्म रोदन्ति यो वा जीवं न दिस्सति।

जीवन्तं मं अम्म पस्सन्ती कस्मा मं अम्म रोदसि ॥"[17]

हे माँ, किसी के मरने पर या जीवित आदमी के न दिखाई देने पर ही लोग रोने लगते हैं। हे माँ लोग मुझे जीवित देख रहे हैं तू किसलिए रोती है ?

इस प्रकार बौद्ध काल के भिक्षु जीवन के आन्तरिक एवं बाह्य रूप के विविध चित्रों को देखने से ज्ञात होता है कि सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के पक्ष पर अग्रसर था बौद्धकालीन जीवन।

भिक्षु साधना में उद्दीपक प्रकृति :-

भिक्षुओं ने अपनी साधना में प्रकृति का कितना सहयोग लिया था और प्रकृति के साथ किस प्रकार सहचारी जीवन व्यतीत किया था इसका विस्तृत निदर्शन हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। इस ग्रन्थ में आरण्य एवं पर्वतीय दृश्यों का तथा वर्षा एवं शरद ऋतुओं का जितना सुन्दर रमणीय एवं संश्लिष्ट वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है उसके लिए यही कहा जा सकता है कि वे सभी वर्णन बौद्ध साहित्य के विभूति स्वरूप हैं। सही मायने में थेरगाथा के प्रकृति वर्णन की तुलना भारतीय साहित्य में एकमात्र वाल्मीकि के ग्रन्थों में वर्णित पद्यमय प्रकृति वर्णन से की जा सकती है। इसकी उदात्तता, सरलता तथा सूक्ष्म निरीक्षण सब कुछ अद्वितीय एवं अनुपम है। इसीलिए विद्वान विण्टरनिट्ज ने थेरगाथा के प्रकृति वर्णनों को भारतीय

[17] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.325

गीतिकाव्य का सच्चा रत्न कहा है। इसी विद्वान ने 'पालिसाहित्य में प्रकृति वर्णन शीर्षक से एक लेख में पालि साहित्य, विशेषतः थेरगाथा में प्राप्त प्रकृति वर्णन का विस्तृत विवेचन करते हुए भारतीय काव्य साहित्य में उस का एक निश्चित स्थान निर्धारित किया है। बौद्धकालीन भिक्षुओं का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से सम्बद्ध था। गिरि-गह्वर, नदियों के तट, वनखण्ड, पुआल पुञ्ज, छन्न कुटि या आछन्न कुटि में ध्यानमग्न भिक्षुओं को वर्षा ,शरद, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के परिवर्तन का तथा पृथ्वी एवं आकाश के विविधि रंगो और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के विविध रूपों की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती थी-इस के नाना रूप थेरगाथा में स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट है। यथा -

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु गिरिमानन्द स्थविर अपनी कुटिया में बैठे हैं। उस समय वे अपने उद्‌गार प्रकट करते हैं-

"वस्सति देवो सथा सुगीतं छन्ना में कुटिका सुखा निवाता।

तस्सं विहरामि वूपसत्तो/सत्तचित्तो/वीतरागो/वीतदेसो/ वीतमोहो,

अथ चे पत्थयसी पवस्स देवो ॥"[18]

सुन्दरगीत के समान देव बरसता है। मेरी कुटिया छायी हुई है। वह शान्त और सुखकारी है। उसमें शान्तचित्त राग द्वेष एवं मोह से रहित होकर मैं बैठा हूँ। ऐसे में हे देव जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो।

"वस्सति देवो यथा सुगीतं" (सुन्दर गीत के समान देव बरसता है।) कैसी सुन्दर उपमा है। प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोज्ञ प्रत्यक्षीकरण है। झड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर

[18] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.29

गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु में है पर ध्यान का सुख तो इससे बड़ा है और प्राकृतिक सौन्दर्य उसके लिए उद्दीपक बनता है।

प्रकृति के शान्त, रमणीय, सुन्दर, चित्ताकर्षक रूप के वर्णन के साथ ही साथ प्रकृति के प्रलयकारी, विध्वंसक एवं रौद्र रूप का वर्णन भी भिक्षुओं ने किया है। परन्तु इस प्रलयकारी अवस्था में भिक्षु का चित्त बिल्कुल शान्त है। सम्बुल कात्यायन स्थविर इस निर्भयता विहार के विषय में सिंहनाद करता है -

"देवो च वस्सति देवो च गळगळयति,

एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।

तस्स मय्हं एककस्स, भेरवे बिले विहरतो,

नत्थि भयं वा छम्भितन्तं वा लोमहंसो वा॥

धम्मता ममसा यस्स मे एककस्स भेरवे बिले।

विहरयो नात्थि भयं वा छम्भितत्तं वा लोमहंसो वाति॥"[19]

प्रलयङ्कर वर्षा हो रही है, मेघ भयङ्कर गर्जन कर रहे हैं; परन्तु मैं इस स्थिति में भी भयानक गुफा में बैठा हुआ एकान्त साधना कर रहा हूँ। इस स्थिति में भी एकान्त साधना करते हुए मुझ को न कोई भय है, न स्तब्धता और न किसी प्रकार का रोमहर्ष ही होता है।

[19] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.329

यह मेरा कोई अभिमान नहीं है क्योंकि यह मेरा स्वभाव है कि मैं इस भयानक स्थिति में भी यह एकान्त साधना कर लेता हूँ। ऐसी स्थिति में भी एकान्त साधना करते समय न कोई भय होता है, न कोई स्तब्धता और न कोई रोमहर्ष ही।

नदी का वर्णन :-

वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर अजकर्णी नदी के समीप ध्यान करते हुए सप्पक स्थविर का उदात्त उद्‌गार दृष्टव्य है -

"यदा वलाका सुचि पण्डरच्छदा कालस्स मेघस्य भयेन तज्जिता।

पलेहिति आलयमायेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥

यदा वलाका सुविसुद्धपण्डरा कालस्स मेघस्य भयेन तज्जिता।

परियेसति लेणमलेणदस्सिनी तदा नदी अजकरणी समेति मं॥

कं नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहिं।

सोभन्ति आवगाकलं मम लेणस्स पक्ष्छतो॥"[20]

ता मतमदसंङ्घसप्पहीना भेका मन्दवती पणादयन्ति।

नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो खेमा अजकरणी सिवा सुरम्मा॥20

जब स्वच्छ पांडुर पंखवाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं। उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है।

[20] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.331

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काल मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहों (गुफाओं) की खोज करते हुए उड़ते हैं ओर उनकी खोंहे वर्षा के अंधकार से ढँकी हुई हैं। वे उन्हें नहीं देख पाते। उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है।

इस नदी के दोनों किनारों पर, बड़ी गुफा के पीछे जामुन के पेड़ सुशोभित हैं, यहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा ? साँपों के भय से विमुक्त मेढ़क मृदुल नाद कर रहे हैं।

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है। यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है।

यहाँ भिक्षु के "नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो।" (आज इन पर्वतों एवं नदियों से दूर रहने का समय नहीं है।) इस उद्गार में प्रकृति प्रेम के प्रति जो पूर्ण निष्ठा (श्रद्धा) प्रकट होती है वैसी निष्ठा विश्वसाहित्य में अन्यत्र कहीं-कहीं देखने को मिलती है।

पर्वतों के शिखर या महावन का वर्णन :-

किसी पर्वत शिखर पर या किसी महावन में बैठकर समाधिजन्य परमसुख पाने का इच्छुक एक विहारी स्थविर अपने जीवनानुभव को इस प्रकार व्यक्त करता है -

"हन्द एको गमिस्सामि अरज्जं बुद्धण्णितं

फासु एकविहारिस्स पहितन्तस्स भिक्खुनो

योगिपीतिकरं रम्मं मत्तकुञ्जरसेवितं

एको अन्तवसी खिप्पं पविसिस्सामि काननं

सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे

गत्तानि परिसिञ्चत्वा चंङ्कमिस्सामि एकको

एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने।

कदाहं विहरिस्सामि कतकिच्चो अनासवो ॥...॥

वन कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले

विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्माभि गिरब्बजे ॥"[21]

अब मैं बुद्ध द्वारा प्रशंसित इस वन में अकेला ही प्रवेश करूँगा क्योंकि संयतेन्द्रिय भिक्षु द्वारा वन में एकाकी विचरण करना सुखमय होता है।

मैं योगियों के लिए अह्लादकारक, रमणीय मन्तुगजों के आवास स्थल इस वन में अकेला ही प्रवेश करुँगा। मैं किसी शीतल गिरिकन्दरा के समीप स्नान कर इस फूले-फले शीतवन में एकाकी ही चक्रमण करुँगा।

मैं किसी अन्य सहायक के बिना एकाकी ही इस रमणीय महावन में कब विचरण करूँगा।

मैं इस राजगृह के गिरिव्रज पुष्पित फलित वन में किसी शिखर पर बैठ कर कब निर्भय होकर साधना करता हुआ विमुक्ति सुख का अनुभव करूँगा।

ऋतु सौन्दर्य वर्णन :-

[21] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, पृ.33

बौद्ध भिक्षुओं ने अपने साधनाभ्यास में ऋतुओं का पूर्ण उपयोग किया है। कालुउदयी स्थविर बसन्त ऋतु की ओर संकेत करते हुए कहता है -

"दुमानि फुल्लनि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसा पवन्ति

पत्तं पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर

नेवातिसीतं न पनातिउण्हं सूखा उतू अद्धनिया भदन्ते।"[22]

पेड़ पौधे प्रसन्न हैं, मन को भरने वाले हैं और चारों ओर दिशाएं सुगंधित हैं। पेड़ों ने फल की खोज में पत्तों को त्याग दिया है। साधक ! यहाँ से जाने का यह समय है। भन्ते। अब न तो ज्यादा ठण्ड है और न ज्यादा गरमी है। मौसम सुखदायी है और लम्बी यात्रा के अनुकूल है।

स्थविर कालउदयी ने बुद्ध से ऐसा कहकर उनसे कपिलवस्तु चलने की प्रार्थना की थी। यह सब बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रकृति प्रेम का परिचायक है।

रात्रि सौन्दर्य का वर्णनः-

बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी गूढ़ ध्यान भावना हेतु रात्रि के समय का ही अधिक आश्रय लिया है। भगवान बुद्ध ने भी मध्य रात्रि में उठकर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का स्पष्ट आदेश दिया है। इसीलिए सोणपोटिरिय स्थविर अपने अनुभव वर्णन में कहते हैं -

"न ताव सुपितुं होति रन्ति नक्खन्तमालिनी।

पटि जग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता॥"[23]

---

[22] अनु. एवं सम्पादक डॉ. धर्मकीर्ति, थेरगाथा, पृ. 265

यह नक्षत्रों (तारासमूह) से जगमगाती चाँदनी रात सो कर व्यर्थ गँवाने के लिए नहीं है। अपितु बुद्धिमान साधक द्वारा यह धर्म साधनाभ्यास में ही बितायी जानी चाहिए।

थेरीगाथा :-

थेरीगाथा 522 पालि गाथाओं का संग्रह है, जिसमें 73 बौद्ध भिक्षुणियों के उद्‌गार सन्निहित हैं। अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई भावनाओं की गहनता और सबसे बढ़कर एक अपराजित वैयक्तिक ध्वनि इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ हैं। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्‌गारों का एक-एक शब्द उच्छवसित है। यहाँ संगीत भी है और जीवन का सच्चा दर्शन भी है। निर्वाण की परम शान्ति का वर्णन करते भिक्षुणियाँ थकती नहीं हैं। ये सभी भिक्षुणियाँ भगवान बुद्ध की समकालीन थीं व उनकी शिष्याएँ थीं।

इन भिक्षुणियों द्वारा कथित गाथाओं में जीवन के प्रति निराशावाद का निराकरण है धर्मसाधना से प्राप्त इन्द्रियातीत सुख साक्ष्य है तथा नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा निहित है। भिक्षुणियों की ये सभी गाथाएँ बुद्धशासन की भावना से आप्लावित हैं। बुद्ध की शरण में जाने के बाद जीवन के कायाकल्प की सर्वत्र सूचना भिक्षुणियों के उद्‌गारों में हमें मिलती है।

प्रायः सभी भिक्षुणियों के उद्‌गारों में काव्यगत विशेषताएँ भरी पड़ी हैं। भिक्षुणियों के उद्‌गारों की मार्मिकता और उनकी शान्त, गम्भीर ध्वनि भारतीय साहित्य में अद्वितीय है और पालि काव्य की तो वह अमूल्य सम्पत्ति है। नारी जाति के प्रति गौतम बुद्ध की कितनी

---

[23] अनु. एवं सम्पादक डॉ. धर्मकीर्ति, थेरगाथा, पृ. 146

अनुकम्पा थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि उनमें से अनेक ने अपने को बुद्ध के हृदय से उत्पन्न कन्या (ओरसा मुखतो जाता) कहकर अभिनन्दित किया है। नारी जीवन की जितनी प्रतिष्ठा बुद्ध ने बढ़ायी उतनी शायद ही दुनिया के किसी भी धर्म संस्थापक ने बढ़ायी होगी। जो नारी पुरुष प्रधान समाज में किसी भी अधिकार की अधिकारिणी नहीं थी, उसको सभी प्रकार के अधिकार देना उसको ज्ञान प्राप्त करने की, ज्ञान का उपदेश देने की, निर्वाण और परमशान्ति को प्राप्त करने की अधिकारिणी घोषित करना बहुत क्रान्तिकारी बात थी।

थेरीगाथा की भिक्षुणियों ने अपने जीवन के सत्य को, अनुभव को भिक्षुणी होने से पूर्व जीवन को और भिक्षुणी होने के बाद के जीवन को, जो उन्होंने अनुभव किया उसे बहुत सुन्दर तरीके से गाथाओं के माध्यम से और भावपूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। इसमें थेरियों की विशेषता यह दिखाई देती है कि वे अपने पूर्वजीवन को बताने में कहीं संकोच नहीं करती हैं। बुद्धदर्शन का सार चार आर्यसत्य के सिद्धान्त पर थेरियों ने जीवन के दुःख को स्वीकार किया। दुःख के कारणों को सही-सही जाना, दुःख से मुक्ति का मार्ग बौद्ध जीवन दर्शन में देखा और भिक्षुणी संघ में सम्मिलित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की और उपसम्पदा प्राप्त की। उस दुःख से मुक्त होकर जिस परम शान्ति का अनुभव किया उसको भी व्यक्त किया।

बौद्धकालीन थेरियाँ और प्रव्रज्या का कारण :-

थेरियों ने अपने सामाजिक जीवन को, अपने पारिवारिक जीवन को, नारी के रुप में समाज में उनके स्थान को, तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं को अच्छी तरह काव्यमय शैली में गाया है। थेरीगाथा केवल जीवनानुभवों का काव्य मात्र नहीं है, बल्कि प्राचीन भारतीय समाज में नारी की क्या स्थिति थी? नारी की ओर देखने का समाज का क्या

दृष्टिकोण था ? आदि कई बातों का वर्णन थेरीगाथा में मिलता है क्योंकि यह ऐतिहासिक थेरियाँ हैं पौराणिक या काल्पनिक बिल्कुल नहीं।

थेरीगाथा में जितनी थेरियाँ हैं, वह तत्कालीन समाज के अधिकांश वर्गों से आई हैं इसलिए सभी का दुःख एक जैसा नहीं है। विभिन्न कारणों से इन भिक्षुणियों ने घर छोड़कर प्रव्रज्या ली थी। इसका विस्तृत विवरण तो थेरीगाथा की अट्ठकथा परमन्दीपनी में उपलब्ध है, जो पाँचवी शताब्दी ईस्वी की रचना है। इसी के आधार पर यहाँ कुछ भिक्षुणियों का विवरण दिया जा रहा है - इनमें से कुछ जैसे मुक्ता (2) और पूर्णा (3) ज्ञान-सम्पत्ति की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए प्रव्रजित हुईं। कुछ ने घर के काम-काज और दोषों से ऊबकर प्रव्रज्या ली, जैसे- मुक्ता (11), गुप्ता (56) और शुभा (70)। धम्मदिन्ना (12) ने पति की विरक्ति के कारण प्रव्रज्या ली। धम्मा (17, मैत्रिका (24), दन्तिका (32), सिंहा (40), सुजाता (53), पूर्णिका (65), रोहिणी (67), शुभा (71), चित्रा (23), शुक्ला (34), अम्बपाली (66), अनोपमा (54) तथा सोमा (36) ने शास्ता में श्रद्धा के कारण प्रव्रज्या ली। प्रिय जनों की मृत्यु और उनके विरह के कारण प्रव्रज्या लेनेवाली भिक्षुणियों में श्यामा (28), उर्विरी (33), किशां गौतमी (63), वासेट्ठी (52), सुन्दरी नन्दा (41), चन्दा (49), पटाचारा (47) तथा महाप्रजापति गौतमी (55) हैं। पुत्रों की अकृतज्ञता, शोणा (45) की प्रव्रज्या का कारण बनी। भद्रा कुण्डलकेशा (46) और ऋषिदासी (72) ने अकृतज्ञ धूर्त पतियों के कारण प्रव्रज्या ली। पति का अनुसरण कर भद्रा कापिलायिनी (37) और चापा (68) प्रव्रजित हुईं। इसी प्रकार भाई (सारिपुत्र) का अनुसरण कर चाला (59), उपचाला (60) और शीर्षोपचाला (61)

प्रव्रजित हो गयीं। बुद्ध-शिष्य को अपने रूप-सौन्दर्य से पराजित न कर सकने पर विमला (39) प्रव्रजित हो गयीं।[24]

जहाँ तक इन भिक्षुणियों के वंश या सामाजिक कुलशील आदि का सम्बन्ध है, ये प्रायः सभी परिस्थितियों की थीं। उदाहरणतः खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा, कोसल, मगध और आलवी के राजवंशों की महिलाएँ थीं। महाप्रजापित गौतमी, तिष्या, अभिरुपा, नन्दा, सुन्दरी नन्दा, जेन्ती सिंहा, अन्यतरा तिष्या, धीरा मित्रा, भद्रा, उपशमा और अन्यतरा स्थविरी शाक्य और लिच्छवि आदि सामन्तों की लड़कियाँ थीं। मैत्रिका अन्यतरा, उत्तमा, चाला, उपचाला, शीर्षोपचाला, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा, भद्रा कापिलायिनी, मुक्ता, नन्दा, सुकुला, चन्दा, गुप्ता, दन्तिका और सोमा ब्राह्मण वंश की थीं। गृहपति और वैश्य (सेठ) वर्ग की महिलाओं में पूर्णा, चित्रा, श्यामा, उर्विरी, शुक्ला, धम्मदिन्ना, उत्तमा, भद्रा, कुण्डलकेशा पटाचारा, सुजाता और अनोपमा थीं। अड्ढकाशी,अभय माता, विमला और अम्बपाली जैसी गणिकाएँ थीं। इसी प्रकार शुभा सुनार की पुत्री और चापा बहेलिए की संतान थी।[25]

सारांश यह कि अनेक कुलशीलों की स्त्रियों ने बुद्ध शासन में दीक्षा ग्रहण की थी। थेरीगाथा में इनके उद्‌गारों और उनमें प्रतिध्वनित इनकी पूर्व जीवनचर्याओं से पाँचवीं-छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय समाज में नारी के स्थान पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु थेरीगाथा का मुख्य आकर्षण तो उसकी काव्य और साधना की भूमि ही है।

थेरीगाथा में गौतम बुद्ध के प्रति अनेक भिक्षुणियों ने अपनी श्रद्धा प्रकट की है। स्वयं गौतम बुद्ध की मौसी महाप्रजापति गौतमी, जिन्हें आनन्द की प्रार्थना पर कुछ अन्य शाक्य

[24] भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृ.340
[25] वही, पृ.341

स्त्रियों के साथ आठ शर्तों पर प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति मिली थी, ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है-

"बुद्धवीर नमो त्यत्थु सबसत्तानमुत्तम।

यो मं दुक्खा पमोचेसि अञ्ञं च बहुकं जनं॥

सब्बदुक्खं परिञ्ञातं हेतुतण्हा विसोसिता।

भावितो अट्ठङ्गिको मग्गो निरोधो फुसितो मया॥

माता पुत्तो पिता भाता अयका च पुरे अहुं।

यथामुच्चमजानत्ती संसरिंहं अनिब्बिसं॥

दिट्ठो हि मे सो भगवा अत्रिमोयं समुस्सयो।

विक्खीणो जातिसंसारो नत्थि दानि पुनब्भवो॥

.....

बहूनं बत अत्थाय माया जनयि गोतम।

व्योधिमरण तुन्नानं दुक्खक्खन्धं ब्यपानुदी"[26] ति॥

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार है! जिसने मुझे और बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा है। मेरे सब दुःख दूर हो गये, मुझे पता चल गया कि दुःख कैसे उत्पन्न होते

[26] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.55

हैं। अब उनके मूल हेतु तृष्णा को मैंने अन्दर सुखा डाला है, आज मैंने दुःख निरोधगामी आर्य अष्टांगिक मार्ग को भवित किया है, उसमें मैंने विचरण किया है।

माता, पुत्र, पिता, भाई, मातामही, मैं पूर्वजन्मों में अनेक बार बनती रही वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में न जानती हुई मैं संसार में घूमती रही और मुझे वह वस्तु कभी नहीं मिली जिसकी मुझे चाह थी।

अब मैंने इस जन्म में उस भगवान के दर्शन किये यह मेरा अन्तिम शरीर है। मेरा आवागमन क्षीण हो गया है अब मुझे पुनः जन्म नहीं लेना है।

अहो! बहुतों के कल्याण के लिए ही महामाया ने गौतम को जन्म दिया था। जिसने व्याधि और मरण से पीड़ित प्राणियों के दुःख-पुंज को काटकर उन्हें मार्ग दिखाया।

यहाँ बहुत स्पष्ट शब्दों में व्याधि और मरण को दुःख बताया गया है जबकि बौद्ध दर्शन में दुःख के कारणों को बताते हुए अविधा के बाद स्वयं गौतम कुछ मौन हैं।

इसी प्रकार बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए क्रमशः भिक्षुणी सुन्दरी तथा अमरा उत्तमा ने स्वयं को बुद्ध के मुख से उत्पन्न बताया है-

"तुवं बुद्धो तुवं सत्था तुय्हं धीताम्हि ब्राह्मण।

ओरसा मुखतो जाता कतकिच्चा अनासवा॥"[27]

आप बुद्ध हैं, आप शास्ता हैं, ज्ञानी ब्राह्मण हैं। मैं आपकी दुहिता हूँ! आपके हृदय से उत्पन्न! आपके मुख से उत्पन्न! मैं आपकी सगी पुत्री हूँ। मैं सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को समाप्त कर निष्पाप हो गयी हूँ।

[27] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.87

"ओरसा धीता बुद्ध रस निब्बानामिरता सदा।"[28]

मैं बुद्ध की औरस (हृदय से उत्पन्न) कन्या हूँ। मैं निर्वाण के प्रत्यन में सदा लीन हूँ।

भिक्षुणी जीवन से पूर्व, अर्थात् बौद्ध शासन में प्रव्रज्या और उपसम्पदा प्राप्त करने के पहले किस प्रकार दुःखमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था इसका वर्णन चन्दा थेरी के उद्गारों से प्रकट होता है-

"दुग्गताहं पुरे आसं विधवा च अपुत्तिका।

विना मित्तेहि त्रातीहि भन्तचोलएस नाधिगं॥

पत्तं दण्डं च गण्हित्वा भिक्खमाना कुला कुलं।

सीतुण्हेन च डटहन्ती सन्त वस्सानि चारिहं॥

भिक्खुनिं पुन दिस्वान अन्नपानस्स लाभिनिं।

उपसङ्कम्म अवोचं पब्बज्जं अनगारियं॥

सा च मं अनुकम्पाय पब्बाजेसि पाटाचारा।

ततो मं ओवदित्वान परमत्थे नियोजसि॥

तस्साहं वचनं सत्वा अकासिं अनुसासनिं।

अमोघो अय्यायोवादो तेविज्जाम्हि अनासवा॥"[29] ति॥

---

[28] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.22

[29] वही, पृ.44-45

विधवा और निःसंतान पहले मैं बड़ी मुसीबत में पड़ी थी। मित्र मेरे कोई नहीं थे जाति वाले मेरे कोई नहीं थे। भोजन और वस्त्र भी मैं नहीं पाती थी।

लकड़ी और भिक्षापात्र लेकर घर-घर भिक्षा माँगती फिरती थी। गर्मी और सर्दी से व्याकुल हुई, मैं सात वर्ष तक इसी प्रकार घूमती रही।

मुझे एक दिन एक भिक्षुणी के दर्शन हुए। उसने आदरपूर्वक भोजन और जल देकर मुझे अनुगृहीत किया। फिर मैनें उसके पास जाकर प्रार्थना की मैं प्रव्रज्या लूँगी।

उस करुणामयी पाटाचारा ने मुझे अनुकम्पापूर्वक प्रव्रज्या दी। फिर मुझे धर्मोपदेश देकर उसने मुझे परामर्श में लगाया।

उसके उपदेश को सुनकर मैंने उसके अनुशासन को पूरा किया। अहो अमोघ था देवी का उपदेश। मैं आज तीनों विद्याओं की ज्ञाता हूँ। सब चित्त मलों से विमुक्त हूँ।

वेदकालीन समाज में सभी जाति, कुल, संस्कारों की स्त्रियों को ज्ञानप्राप्ति, धर्मसाधना एवं निर्वाण की अधिकारिणी नहीं समझा जाता था। गौतम बुद्ध ने सभी जाति, कुल की स्त्रियों के लिए बौद्ध धर्म दर्शन में दीक्षित होने, प्रव्रज्या ग्रहण करने, संघ में प्रवेश प्राप्त करने के दरवाजे खोल दिये। विभिन्न कुल एवं जाति समूह से आने वाली स्त्रियों के बीच कोई भेदभाव नहीं रखा। उन्हें एक ही पंक्ति में बैठाकर बौद्ध धर्म में दीक्षा दी। जिसका उल्लेख थेरीगाथा में मिलता है। डॉ0 धर्मकीर्ति ने लिखा है- भिक्खुणी संघ में किसी भी प्रकार के भेदभाव की भावना उत्पन्न न हो, इसलिए उन्होंने महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा जैसी महारानियों और प्रकृति जैसी मेहतरानियों (चाण्डालकन्या) को संघ में प्रव्रज्या देने के उपरान्त एक पंक्ति में बिठा दिया। ऐसा उदाहरण इससे पहले भारतीय साहित्य और धर्म दर्शन में नहीं मिलता है। भिक्षुणी सोमा के उद्‌गार दृष्टव्य हैं-

"यं तं इसीहि पत्तब्बं ठानं दुरभिसम्भवं।

न तं दुङ्गुलपञ्ञय सक्का पप्पोतुमित्थिया ति॥

इत्यिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते।

आणम्हि वत्तमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतो॥

सब्बत्थ विहता नन्दी तमोक्खन्धो पदालितो।

एवं जानाहि पापिम निहतो त्वमसि अत्तका॥"[30] ति॥

जो स्थान ऋषियों के द्वारा भी प्राप्त करने में अत्यन्त कठिन है उसे दो अंगुलिमात्र प्रज्ञा वाली स्त्री प्राप्त कर लेगी, यह कभी सम्भव नहीं।

भिक्षुणी ने मार को फटकारते हुए कहा- जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है ज्ञान नित्य विद्यमान है और अन्तर्ज्ञानपूर्वक धर्म का सम्यक दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्रीत्व इसमें हमारा क्या करेगा ?

देख! मैंने सभी जगह से अपनी वासना की तृष्णा का सम्पूर्ण विनाश कर दिया है। अज्ञानांधकार को विदीर्ण कर दिया है। पापी मार ! प्राणियों का अन्त करने वाले। समझ ले! आज तेरा ही अन्त कर दिया गया।

बौद्ध धर्म के मूल में करुणा है जिसका उद्देश्य दुःख से मुक्ति या दुःख शमन का है। स्वयं गौतम बुद्ध सांसारिक दुःखों को देखकर उनसे मर्माहत होकर घर छोड़कर ज्ञान प्राप्ति के लिए निकले और बुद्धत्व की प्राप्ति की। थेरीगाथा में भिक्षुणी पाटाचारा और कृशागौतमी

[30] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.26-27

असह्य वेदना झेलती हुई किसी प्रकार गौतमी बुद्ध के पास पहुँची और सम्यक सम्बोधि से ज्ञान प्राप्त कर प्रव्रज्या ग्रहण की क्रमशः उनकी कहानी जान लेना आवश्यक है-

श्रावस्ती के एक सेठ की पुत्री वयः प्राप्त होने पर एक नौकर के प्रेम में फँस गई। विवाह होने से पूर्व ही उसके साथ भाग गई। दोनों एक नगले में जाकर रहने लगे। कुछ समय बाद जब वह गर्भवती हुई तो अपने पिता के घर जाने की इच्छा प्रकट की। पति के मना करने के बाद भी वह चली गयी। उसे ढूँढ़ता हुआ पति भी उसके पीछे चल दिया और रास्ते में वह उसे मिल गई। रास्ते में ही उसको प्रसव हुआ। दोनों पति-पत्नी हँसी-खुशी लौट आये। दूसरी बार जब गर्भवती हुई तो फिर इसी प्रकार चल दी। इस बार दोनों रास्ते में ही थे कि भयंकर तूफान आया और रात हो गयी पति को साँप काट लिया जिससे वह वहीं मर गया। रात्रि में ही उसे प्रसव हुआ। पति वियोग में रोती हुई वह पिता के घर को जाने लगी। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। बच्चों को साथ लेकर नदी पार करने की शक्ति शरीर में नहीं थी। अतः बड़े बच्चे को नदी के किनारे छोड़कर अभी उत्पन्न छोटे शिशु को लेकर दूसरे किनारे पर गई और एक कपड़े में लपेटकर झाड़ी में रख दिया। फिर बड़े को लेने के लिए नदी पार करने लगी। तभी एक बाज ने सद्यः जात शिशु को मांसपेशी समझकर उस पर झपट मारी। पाटाचारा नदी की बीच धारा से चिल्लाती और तालियाँ बजाती रही पर बाज पर कोई असर नहीं हुआ बल्कि बड़े बच्चे ने समझा माँ, तालियाँ देकर बुला रही है और वह पानी में कूद गया। नदी के तेज बहाव में वह बह गया और छोटे बच्चे को बाज ने मार डाला। अब पाटाचारा शोक में पागल हो गई। वह दहाड़े मार-मार कर रोते हुए श्रावस्ती के मार्ग पर बढ़ी जा रही थी तभी एक पथिक मिला जिसने सूचना दी कल के तूफान में घर की छत गिरने से सेठ, उसकी भार्या और पुत्र तीनों दबकर मर गये। अब तो पाटाचारा की दुनिया ही उजड़ गयी। उसका कोई न रहा। वह निर्वस्त्र होकर पागल सी इधर-उधर भटकती थी। एक दिन भटकते हुए वह बुद्ध के पास पहुँची

। गौतम बुद्ध ने कहा "भगिनि! स्मृति लाभ कर ।" बाद में गौतमबुद्ध ने पाटाचारा को उपदेश दिया जिससे उसके चित्त को शांति मिली । गौतम बुद्ध ने उससे कहा-"पाटाचारे । तेरे पुत्र आदि तेरी शरण नहीं हो सकते । तू अपने शील को विशुद्ध कर । निर्वाणगामी मार्ग की पथिक बन । वही तेरे लिए उत्तम शरण होगी ।" उपदेश सुनने के अनन्तर पाटाचारा स्रोत आपन्न फल में प्रतिष्ठित हो गई । भिक्षुणियों के पास जाकर साधना करने लगी । एक दिन घड़े में पानी भरकर पैर धो रही थी । पैर धोकर उसने पानी फेंका तो देखा कि कुछ दूर जाकर सूख गया है । फिर दूसरी बार फेंका तो देखा कि कुछ अधिक दूर जाकर वह सूख गया । तीसरी बार फेंका तो कुछ और अधिक दूर जाकर सूख गया । इस दृश्य को देखकर पाटाचारा सोचने लगी, "इसी प्रकार कुछ प्राणी प्रथम वयस् में भी करते हैं कुछ मध्यम वयस् में भी मरते हैं कुछ अन्तिम वयस् में भी मरते हैं । सभी अनित्य हैं ।" इसी पर विचार करते हुए उसने अर्हत्व प्राप्त कर लिया । अर्हत्व प्राप्त कर अपने साधना सम्पन्न जीवन का प्रत्यवेक्षण करती हुयी पाटाचारा कहती है :-

“नंगलेहि कसं खेन्तं, बीजानि पवपं छमा ।

पुत्तदारानि पोसेत्ता धनं विन्दन्ति माणवा ॥

किमहं सीलसम्पन्ना सत्सुसासनकारिका

निब्बानं नाधिगच्छाभि अकुसीता अनुद्धता

.....

ततो सूचिं गहेत्वान बट्टिं ओकस्सयामहं।

पदीपस्सेव निब्बानं विमोक्खो अहु चेतसो ॥"[31] ति॥

कृषक हल से भूमि को जोत कर उसमें बीज बोते हैं इस प्रकार वे धन उपार्जन करते अपने स्त्री पुत्रादि का पालन करते हैं।

तो फिर क्यों न मैं साधिका निर्वाण को प्राप्त कर पाती? मैं जो कि शील से सम्पन्न हूँ अपने शास्ता के शासन को पूरा करने वाली हूँ। अप्रमादिनी हूँ। अचंचल और विनीत हूँ।

फिर सूई लेकर दीपक की बत्ती को जैसे ही नीची करने के लिए तेल में डुबोने लगी कि दीपक की लौ बुझ गयी । दीपक का निर्वाण प्राप्त करना था कि उसके साथ ही मेरे चित्त का भी निर्वाण हो गया। तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ गयी ।

इसी प्रकार कृशां गौतमी अपने मृत बच्चे को गोद में चिपकाये हुए घर-घर जाकर कहती 'मेरे बच्चे को औषधि दो' एक दिन एक आदमी ने उसे तथागत के पास जाने के लिए कहा, "गौतमी ने गौतम बुद्ध पास जाकर भी यही कहा, "बुने उससे कहा नगर में जाकर जिस घर में कभी किसी की मृत्यु नहीं हुई हो उस घर से पहले सरसो ले आ ।" गौतमी को ऐसा कोई घर नहीं मिला जहाँ मृत्यु न हुयी । इस प्रकार उसे ज्ञान हुआ और बुद्ध का उपदेश पाकर वह कुछ ही दिनों में अर्हत्व पद प्राप्त किया । कृशां गौतमी ने अपने जीवन का वर्णन इस प्रकार किया है -

"दुक्खं च विजानेय्य दुक्खस्स च समुदयं निरोधं ।

अट्ठङिकं च मग्गं चत्तारिपि अरियसच्चानि ॥

दुक्खो इत्थिभवो अक्खतो पुरिसदम्मसारथिना ।

[31] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.42

समन्तिकं पि हि दुक्खं अप्पोकच्चा सकिं विजातायो ॥

गलके अपि कन्तन्ति सुखुमालिनियो विसानि खादन्ति ।

जनमारकमज्झगता उभोपि ब्यसनानि अनुमोत्ति ॥

.....

खीणकुलीने कपणे अनुभूतं ते दुक्खं अपरिमाणं ।

अस्सू च ते पवन्तं बहूनि च जाति सहस्सानि ॥

.....

अहमम्हिं कत्तसल्ला ओहितभारा कतं हि करणीयं ।

किसागोतमी थेरी विमुत्तचित्ता इमं भणी"[32] ति ॥

सत्संग से मनुष्य को चार आर्य सत्यों का ज्ञान होता है-दुःख का, दुःख के समुदाय का, दुःख के निरोध का और दुःख के निरोध की ओर ले जाने वाले आर्य अष्टांगिक मार्ग का भी ।

स्त्री होना दुःख है ऐसा मनुष्यों के चित्त को संयमी बनाने वाले उन सारथी स्वरूप (बुद्ध) ने कहा है । सपत्नियों के साथ एक घर में रहना दुःख है, बच्चों को (तीव्र पीड़ा में) जनना दुःख है ।

कोई-कोई जनने वाली माताएँ एक ही बार में मृत्यु चाहती हुयी अपना गला काट लेती हैं, ताकि दुबारा यह दुःख न सहना पड़े । कुछ सुकुमारियाँ विष खा लेती हैं; बच्चा जब पैदा नहीं

[32] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.64-65

होता और गर्भ बीच में रुक जाता है, तो भ्रूण मातृघातक बन जाता है और जच्चा और बच्चा दोनों ही विपत्ति अनुभव करते हैं।

.....

भाग्यहीन नारी! तूने असंख्य जन्मों में इस प्रकार का अपरिमित दुःख अनुभव किया है, तूने सहस्रों जन्मों में अपार आँसुओं को बहाया है।

.....

आज मेरा वेदना का तीर निकल गया, सभी बोझों को मैंने दूर फेंक दिया है। मेरे सब कर्तव्य पूरे हो गये, सभी बन्धनों से मेरा चित्त विमुक्त हो गया। मैं कृशा गौतमी भिक्षुणी यह कहती हूँ।

इस प्रकार कृशां गौतमी के उद्‌गार में बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धान्त दुःख निवारण के चार आर्य सत्यों की उल्लेख है। उसने आगे कहा सौत के साथ एक ही घर में रहना दुःख है परन्तु स्त्री होना और बच्चे जनना दुःख कैसे हो सकता है। यदि स्त्री न हो और वह स्त्री बच्चे जनने से इन्कार कर दे तब उस स्थिति में क्या सृष्टि की कल्पना की जा सकती है। जीवन-जगत के विषय में विज्ञान तथा अन्य अनुशासनों की क्या गति होगी क्या यह जीवन से पलायन नहीं है? दूसरी महत्त्वपूर्ण बात बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता परन्तु अनेक थेरियों ने पुनर्जन्म को कष्टकर बताते हुए कहा है यह उनकी अन्तिम देह है। अब जरा-मरण से मुक्ति पा ली है मैंने। ऐसा कहते हुए वे पूर्वजन्म की सत्ता को स्वीकार रही हैं यथा प्रजापति गौतमी, चन्दा, कृशा गौतमी आदि जो लोक में अन्धविश्वास को बढ़ावा देता है। सौत से तात्पर्य बहुपत्नी प्रथा से है इससे छुटकारा पाने के लिए क्या पारिवारिक संस्था का ही नकार कर दिया जाना सच्चे अर्थों में मुक्ति है जो थेरीगाथा में दिखाई देती है। पारिवारिक ढ़ाँचे को

यथा रूप में न स्वीकारते हुए उसमें बदलाव के लिए प्रयत्न करना, संघर्ष करना विकल्प हो सकता है या पारिवारिक संस्था का त्याग कर देना ?

इसी प्रकार थेरीगाथा की कुछ और भिक्षुणियाँ हैं जिन्होंने तत्कालीन समय में पति को परमेश्वर मानने से इन्कार कर दिया पति की इच्छाएँ ढोना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है संघ में प्रविष्ट होने और प्रव्रज्याग्रहण करने के लिए उन्होंने किन-किन रागपूर्ण चीजों का त्याग किया है। यहाँ जो जरूरी सवाक हमारे सामने उपस्थित होता है वह यह कि क्या किसी सामाजिक व्यवस्था की खामियों को उस समाज में रहते हुए दूर किया जा सकता है या उससे दूर भाग कर संन्यास ग्रहण करना। अपनी पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में दिनकर ने लिखा है-बुद्धदेव ने यह प्रथा चला दी कि बालक, बूढ़ा, नौजवान जो जब चाहे तभी संन्यास ले सकता है। नतीजा यह हुआ कि हट्टी-कट्टी, कद-काठी वाले अच्छे-अच्छे लोग जो खेतों में काम कर सकते थे अथवा किसी दूसरी जगह पर डटकर समाज की ठोस सेवा कर सकते थे, गेरुआ पहन कर, भिक्षु बनकर डोलने लगे। देश में मठों की परिपाटी, कदाचित पार्श्वनाथ ने चलायी थी। बौद्ध मत ने उसमें अपार वृद्धि कर दी।

स्त्री मुक्ति का प्रश्न एवं थेरीगाथा :-

स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में इन थेरियों के उद्‌गारों को देखते हैं। मुक्ता द्वितीय कहती है-

"सुमुत्ता साधु मुत्ताम्हि, तीहि खुज्जेहि मुत्तिया।

उदुक्खलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन न।

मुत्ताम्हि जातिमरणा भवनेत्ति समूहता"[33] ति ॥

[33] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.10

मैं सुमुक्त हो गई। अच्छी विमुक्त हो गई। तीन टेढ़ी चीजों से मैं भली विमुक्त हो गई। ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मैं अच्छी मुक्त हो गई, (किन्तु इससे की एक और महान मुक्ति मुझे मिली) मैं आज जन्म मरण से ही मुक्त हो गई। मेरी भव-रज्जु ही कट गई।

थेरी संघा अनुभव व्यक्त करते हुए कहती है संन्यास ग्रहण करके मैंने किन-किन रागपूर्ण चीजों को छोड़ा-

"हित्वा घरे पब्बजित्वा, हित्वा पुत्तं पसुं पियं।

हित्वा रागं च दोसं च, अविज्जं च विराजिय।

समूलं तव्हमब्बुय्ह उपसत्ताम्हि निब्बुता"[34] ति॥

संन्यास लेकर मैंने घर छोड़ा, प्यारी संतान को छोड़ा, प्यारे पशुओं को छोड़ा। राग और द्वेष को छोड़ा, अविद्या को छोड़कर विरक्त हुई। तृष्णा को समूल खोदकर अब मैंने निर्वाण की परम शान्ति का साक्षात्कार किया है। निर्वाण का साक्षात्कार कर मैं परम शान्त हो गई हूँ।

थेरीगाथाओं के माध्यम से ही ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वेश्यावृत्ति कानूनन वैध थी। अम्बपाली को नगर वधू घोषित किया जाना इसका सशक्त उदाहरण है। भिक्षुणी अड्ढकासी के उद्गार से यह बात बिल्कुल साफ तौर पर जाहिर होती है कि निगम वेश्याओं का पारिश्रमिक तय करता था और वेश्यावृत्ति को वैधता प्रदान करता था। इस सन्दर्भ में अड्ढकासी का उद्गार द्रष्टव्य है-

"याव कासिजनपदो सङ्को मे तत्थको अहु।

---

[34] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.13

तं कत्वा नेगमो अग्घं अड्देनग्घं उपेसि मं ॥

अथ निब्बिन्दह रुपे निब्बिन्दं च विरज्जहं।

मा पुन जाति संसारं सन्धावेय्यं पुनप्पुनं।

तिस्सो विज्जा सच्छिकता कतं बुद्धस्स सासनं"[35] ति॥

जितनी समस्त काशी राज्य की (एक दिन की) आय है, उतना ही विपुल मेरा (एक रात का) शुल्क था। उतना ही मूल्य, उससे कम नहीं, निगम के द्वारा (एक रात की) सेवाओं के लिए पारिश्रमिक स्वरूप निश्चित था।

किंतु वही मेरा सौन्दर्य आज मेरे लिए घृणा का कारण बना, ग्लानि पैदा करने वाला हुआ। मैं उसके मोह से मुक्त होकर अब विरक्त हो गई। मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्कर में मुझे अब और नहीं घूमना। मैंने तीनों विद्याओं का साक्षात्कार कर लिया भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के शासन को पूरा कर लिया।

थेरीगाथा के माध्यम से बौद्धकालीन स्त्री जीवन की तमाम समस्याओं की तरफ ध्यान दिया जाता है जैसे थेरीगाथा से जानकारी मिलती है कि उस समय दास प्रथा लागू थी। धनिकों की औरतें अपने घरों का काम नहीं करती थीं। उनके घर का काम दासियाँ करती थीं। पुण्णिका ऐसी ही दासी थी। वह अपनी गाथा में कहती है -

"उदहारी अहं सीते सदा उदकमोतरिं।

अय्यानं दण्डभयभीता, वाचोदोसभयद्विता॥"[36]

[35] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.16

मैं पनिहारिन थी। सदा पानी भरना ही मेरा काम था; स्वामिनियों के दण्ड के भय से, उनके क्रोध-भरे कुवाच्यों से पीड़ित होकर, मुझे कड़ी सर्दी में भी सदा पानी में उतरना पड़ता था।

काशी राज्य की एक दिन की आय एक हजार कार्षापण थी। उस वेश्या का एक रात का पारिश्रमिक भी इतना ही था। इसलिए वह 'काशी' 'कासी' भी कहलाती थी। ऐसा कहा जाता है कि बाद में बहुत से आदमी जब इतना मूल्य नहीं चुका पाते थे तो इसका आधा (500 कार्षापण) देकर वे उसके साथ एक दिन बिता सकते थे। इसलिए वह बाद में अर्द्धकाशी (अड्ढकाशी) के नाम से भी जानी जाने लगी। प्रस्तुत गाथा में वह अपनी पूर्व स्थिति का वर्णन करती है, जब वह काशी कहलाती थी।

थेरीगाथा का प्रकृति चित्रण :-

प्राकृतिक वर्णन की जितनी प्रवृत्ति भिक्षुओं की है, उतनी भिक्षुणियों की नहीं। थेरीगाथा में केवल सुभा भिक्षुणी की गाथाओं में बसन्त ऋतु का प्राकृतिक चित्रण वर्णन है। वह अत्यन्त सुन्दर संश्लिष्ट और सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है पर उसका लक्ष्य वहाँ केवल पृष्ठभूमि को तैयार कर देना है। शुभा भिक्षुणी अपनी आँख को अश्रुजल सिंचित जल बुदबुद मात्र कहती है। बाद में निर्विकार भाव से उसे निकालकर कामी पुरुष को दे देती है। इसके प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए ही यहाँ पृष्ठभूमि में बसन्त का वर्णन किया गया है। यहाँ बसन्त का प्राकृतिक चित्रण साक्षात् शुभा भिक्षुणी का नहीं है, अपितु उस पर आसक्त किसी कामलोभी पुरुष का है। वह कहता है -

"मधुरं च पवत्ति सब्ब्सो कुसुमजेन समुट्ठिता दुमा।

---

[36] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.70-71

पठमवसन्तो सुखो उतु एहि रमाय सुपुण्फित वन ॥

कुसुमितसिखरा च पादपा अभिगज्जत्ति मालुतेरिता ।

का तुय्हं रति भविस्यति यदि एका वनभोगहिस्सति ॥"[37]

यहाँ सब ओर मधुर सुगन्धमय पवन बह रहा है, सभी वृक्षों पर लगे फूलों की सुगन्धमय केसर उड़ रही है । सुखमय बसन्त ऋतु के ये आरम्भिक दिन में आ किसी एकान्त प्रदेश चल कर वहाँ रमण करें । यहाँ सभी वृक्षों की शिखर शाखाएँ फूल से लदी हुई हैं वायु के द्वारा प्रेरित वृक्षों की शाखाओं के परस्पर घर्षण से विविध मनोहर ध्वनियाँ निकल रही हैं । ऐसे सुखद परिवेश में तुमको यहाँ एकाकी रहने से क्या मिलेगा ।

कामी पुरुष शुभा (2) के सौन्दर्य से मुग्ध होकर प्रकृति के उद्दीपन स्वरूप का वर्णन करते शुभा (2) को लुभाने की कोशिश करता है, परन्तु शुभा (2) ने उसे भोग के दुष्परिणामों और भिक्षुणी जीवन का ध्यान दिलाया परन्तु जब वह कामी पुरुष नहीं माना तो शुभा ने अपने नेत्रों पर आकृष्ट उस कामी पुरुष को अपनी एक आँख फोड़कर उसके हाथ में दे दी । अब युवक भयभीत हो गया । उसकी भोग-लालसा गायब हो गयी । वह क्षमा याचना करने लगा । शुभा गौतम बुद्ध के पास चली आयी । गौतम बुद्ध के दर्शन मात्र से उसकी आँखें पहले जैसी हो गयी । इस प्रकार की चमत्कारिक बातें सन्देह और अन्धविश्वास को प्रश्रय देती हैं जिससे थेरीगाथा की ऐतिहासिकता पर सवाल भी खड़े होते हैं ।

थेरगाथा-थेरीगाथा के विचार एवं काव्यगत सौन्दर्य विषयक विशेषताएँ :-

[37] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.95

थेरगाथा एवं थेरीगाथा के संवेदनागत एवं शैलीगत पृथक्-पृथक् अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि थेरियों के उद्गारों में कुछ व्यक्तिगत विशिष्टताएँ हैं जो उन्हें भिक्षुओं से अलग करती हैं। यथा थेरगाथा के भिक्षुओं में केवल जयन्त पुरोहित पुत्र तथा शीलवान आदि कुछ भिक्षुओं ने ही हमको अपने पूर्व जीवन से परिचित कराया है। बाह्य (सांसारिक) जीवन की अपेक्षा भिक्षुओं का आग्रह अपने साधना विषयक आन्तरिक अनुभवों के प्रकाशन पर ही अधिक रहा है। इतना ही नहीं उन अनुभवों में इतना साम्य आ गया है कि अनेक प्रसंगो पर वे व्यक्ति के प्रतिनिध न होकर समस्त भिक्षुवर्ग के प्रतिनिधि प्रतीत होने लगते हैं। इसके विपरीत, भिक्षुणियों के उद्गारों में वैयक्तिक विशिष्टता की पूर्ण ध्वनि विद्यमान है। भिक्षुणियों ने अपने उद्गारों में अपने पूर्वकालीन सामाजिक जीवन के प्रति बहुत कुछ बताया है। पूर्व जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद के विषय में बहुत कुछ कहा है।

अपने गृहस्थ जीवन के विवादों की ओर ऐसे संकेत मुक्ता, गुप्ता तथा शुभा भिक्षुणियों ने किया है। उब्बिरी, कृशा गौतमी और वशिष्ठी भिक्षुणियों के हदयोद्गारों में सन्ततिवियोग की पूरी झलक है। इसी प्रकार सुन्दरी, नन्दा और चन्द्रा ने अपने जीवनानुभावों में पति आदि सम्बन्धियों की मृत्यु के बाद अपने प्रव्रज्या-ग्रहण की सूचना दी है। पाटाचारा भिक्षुणी के शब्दों में उस के समस्त करुण जीवन की कहानी अन्तर्गुम्फित है। भिक्षुणियों की अनेक गाथाएँ 'अहं' से प्रारम्भ होती है। जिन में उनकी आन्तरिक वैयक्तिक ध्वनि अपना वैशिष्ट्य संजोये हुए है।

जहाँ तक विचार एवं काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध है, थेरगाथा एवं थेरीगाथा दोनों ही ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन की अनेक समानताएँ है। जिस प्रकार भिक्षुओं ने शरीर में अशुभ भावना की है -

श्मशान में पड़े हुए स्त्री के गले-सड़े शरीर को क्रीमियों द्वारा खाये जाते देखकर कुल्य स्थविर जैसे भिक्षुओं ने उसमें अनित्य एवं अशुभ भावना की है; यथा-

"अपविद्धं सुसानस्मिं खज्जत्तिं किमिही फुटं।

आतुंर असुचिं पूतिं पस्स कुल्लं समुस्सयं ॥"[38]

कुल्य! इस शमशान में पड़ी हुई इस उन्नत मांसराशि को देखो जो रोगयुक्त अपवित्र एवं दुर्गन्धयुक्त है, और जिस को कीड़े खा रहे हैं, यह केवल मूर्खों को ही प्रसन्न कर सकती है।

उसी प्रकार भिक्षुणियों ने भी शरीर में अशुभ की भावना की है। "आज मेरी भव-रज्जु कट गयी।" " मेरे हृदय में बिंधा तीर निकल गया।" "तृष्णा की लों सदा के लिए बुझ गयी।" "मैं सब मलों से विमुक्त हूँ।" "अब मैं सर्वथा शान्त हूँ, निष्पाप हूँ" आदि भिक्षुणियों के उद्‌गार अपना गम्भीर और शान्त प्रभाव लिए हुए है। और मानव मन को पवित्रता की उच्च भूमि पर ले जाते हैं।

दोनों ही ग्रन्थों में बुद्धवचन के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं विनीत भाव दिखाई देता है। पराचारा भिक्षुणी का तीस भिक्षुणियों के लिए दिया गया यह उपदेशाक्य दृष्टव्य है-

"करोथ बुद्धसासनं य कत्वा नानुतप्पति।

खिप्पं पादानि धोवित्वा एकमत्ते निसीदथ ॥

चेतोसमथमनुयुत्ता करोथ बुद्धशासनं ॥"[39]

[38] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि पृ.23
[39] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि पृ.46

तुम भी बुद्धापदिष्ट धर्म का पालन करो। जिस के पालन से कभी कोई पश्चाताप नहीं करना पड़ता। तुम जन्दी से अपने पैर धोकर एकान्त समाधि में बैठ जाओ। इस से तुम्हारे चित्त को शान्ति मिलेगी। अतः तुम लोग बुद्धानुशासन का पालन करो।

सभी भिक्षु-भिक्षुणियों की यह दृढ़ धारणा थी, जीवन्त विश्वास था कि उन को निर्वाण प्राप्त हो सकता है। महत्त्वूपर्ण यह है कि भिक्षणियाँ यह मानती थीं उन का 'स्त्रीभाव' उन की साधना में कभी बाधक नहीं हो सकता वे कहती है -

"इत्थिभावों नो कि कायिरा चित्तम्हि सुसमाहिते।

ञाणम्हि विज्जमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतों॥"[40]

जब हमारा चित्त समाहित हो चुका है तो हमारा यह स्त्री होना हमारी क्या हानि कर सकेगा। क्योंकि हम भी सम्यक ज्ञान प्राप्त कर चुकी हैं तथा हमें धर्म का साक्षात्कार हो गया है। अब इस स्त्रीभाव से हमारी क्या हानि सम्भव है।

थेरगाथा और थेरीगाथा दोनों में ही संवादात्मक शैली का बखूबी इस्तेमाल है। दोनों में सवाल-जवाब मिलते हैं। तर्क करने का समान ढंग दिखाई देता है। दोनों गेय शैली के संगीतबद्ध ग्रन्थ हैं। इन्हें ताल और सुर पर गाया जा सकता है। इन काव्य गाथाओं में लयबद्धता है। थेरगाथा और थेरीगाथा में अर्हत् भिक्षु-भिक्षुणियों के जीवनानुभव और सफल जीवन की उपलब्धियाँ गाथा शैली में शब्दबद्ध हैं। थेरगाथा और थेरीगाथा भिक्षुओं और भिक्षुणियों के स्वकथन हैं। डा0 विमलकीर्ति का कहना है – "आधुनिक काल में स्वकथनों (ऑटोबायोग्राफी) का बड़ा महत्व है। थेरगाथा और थेरीगाथाओं का भी पालि साहित्य में

[40] प्रधान सम्पादक एवं अनु.-स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि पृ.46

बहुत महत्व है। थेरगाथाओं और थेरीगाथाओं में इस बात का पता चलता है कि भिक्खु और भिक्खुणिओं का पूर्व जीवन किस प्रकार का था और भिक्खु-भिक्खुणी बनने के बाद का जीवन कैसा हो गया था। अर्थात् बुद्ध के दर्शन और धम्म को अपनाने के बाद उनके जीवन में जो बदलाव आया उसका बहुत सुंदर वर्णन उन्होंने इन गाथाओं में किया है।"[41]

थेरगाथा और थेरीगाथा दोनों में नाटकीय संवाद प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं परन्तु थेरीगाथा के नाटकीय संवाद ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो उठते हैं। क्योंकि उनमें भावनाओं की गहनता और अपराजित व्यक्तित्व की झलक मिलती है। यथा- रोहिणी और उसके पिता का संवाद। सुन्दरी, उसकी माता और सारथी का संवाद। चापा और उसके पति का संवाद, शीर्षोपचाला और मार का संवाद, वड्ढमाता और उसके पुत्र का संवाद आदि।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है थेरगाथा और थेरीगाथा में व्यक्त उद्गारों में अपने भीतर के आसवों, विकारों, अज्ञान को त्यागने और नष्ट करने की बात है। कोई भी धन, सुख की कामना करता दिखाई नहीं देता है। न ही किसी को स्वर्ग की लालसा है। दोनों के उद्गारों में जीवन के करूणपक्ष के अनुभव की विशेष अभिव्यक्ति है। किसी प्रकार का नैराश्य भाव नहीं है। दोनों ने बुद्धशासन के आश्रय में गम्भीर, उद्दात्त एवं शान्त सुख को प्राप्त किया है तथा जीवन की विषमताओं, संकीर्णताओं, विकारों से मुक्ति के मार्ग की तलाश की है।

[41] अनु. एवं सम्पादक डॉ. विमलकीर्ति, थेरगाथा, पृ.5

चतुर्थ अध्याय

थेरीगाथाओं के पुनर्पाठ की जरूरत

थेरीगाथा बुद्धकालीन भिक्षुणियों के जीवनानुभव की अभिव्यक्ति का संग्रह है । जिसमें 73 भिक्षुणियों के 522 पद्य गाथाएं संकलित हैं । इन गाथाओं के माद्ध्यम से बुद्धकालीन नारी जीवन की वैयक्तिक तथा सामाजिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है। थेरीगाथा में भिक्षुणियों ने अपने भिक्षुणी बनने से पूर्व तथा पश्चात जीवन के यथार्थ को बेबाकी से व्यक्त किया है। संघ में प्रवेश प्राप्ति के बाद किसी भी भिक्षुणी ने संघ के नियमों या बुद्ध के उपदेशों को लेकर सवाल खड़े नहीं किये हैं। वे संघ तथा गौतम बुद्ध के प्रति हमेशा श्रद्धानवत ही हैं । अतः संघ की आतंरिक खामियों के विषय में हमें थेरीगाथा से जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

परिवार, समाज और बौद्धकालीन स्त्री:-

परिवार साधारणतया पति, पत्नी और बच्चों के समूह को कहते हैं, किन्तु दुनिया के अधिकांश भागों में वह सम्मिलित वास वाले रक्त सम्बन्धियों का समूह है जिसमें विवाह और दत्तक प्रथा द्वारा स्वीकृत व्यक्ति भी सम्मिलित है । परिवार में संबंधो से मानसिक सुरक्षा, भौतिक सहायता, देखभाल, अपनत्व, हैसियत, वैधता, और सामाजिक पहचान मिलती है। इसके साथ ही महिलाएं चाहे वे जवान हों या बूढ़ी उनके अनुभव बताते हैं की परिवार, घरबार और समाज कुल मिलाकर गैरबराबरी, दबाव, वर्जना, उत्पीड़न और हिंसा के दायरे रहे हैं और आज भी हैं। जिसमें स्त्री- पुरुष भेद, जेंडर तथा उम्र द्वारा निर्धारित हित और सत्ता सम्बन्ध अन्तर्निहित होते हैं।

बुद्धकालीन परिवार में स्त्रियों की स्थिति जानने के लिए तत्कालीन समाज में स्त्री के विभिन्न रूपों यथा पुत्री, पत्नी ,माता आदि के विषय में जानना जरूरी है। "श्रमण संस्कृति के विकास के साथ पुत्र और पुत्री के प्रति क्रमशः स्नेह और घृणासूचक भाव समाप्त होने लगा। आगमों में पुत्र को किसी भी प्रकार का धार्मिक महत्त्व नहीं दिया गया है। उनमें ऋण सिद्धांत के अस्तित्व का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है की दोनों (बौद्ध और जैन) ही सम्प्रदायों में पितृऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र प्राप्ति आवश्यक है – इस बात की उपेक्षा की गई है। बौद्ध और जैन आगमों में कन्या के विवाह के विषय में आग्रह सूचक नियमों का सर्वथा अभाव है। फलस्वरूप विवाह के पूर्व यह आवश्यक हो गया की पिता पुत्री से उसके विवाह की स्वीकृति ले।"[1] पुत्री; पिता या किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र थी। कई बार विवाह न करके वे स्वेच्छा से भिक्षुणी बन जाती थीं। बुद्धकाल में पुत्री का महत्त्व बाल्यावस्था में पुत्र के समान ही था। थेरीगाथा में उब्बीरी अपनी पुत्री जीवंती के लिए अत्यंत शोकाकुल होकर श्मशान में जाकर रोया करती है। बुद्धकाल में कुल-जाति का बंधन विद्यमान था। कुलीन परिवार के व्यक्ति अपने पुत्र के लिए समान कुल की कन्या को लाना पसंद करते थे। पुत्री परिवार में अत्यंत स्नेह प्राप्त करती थी। प्रव्रज्या लेने के लिए इच्छुक व्यक्ति पहले अपनी संरक्षित पुत्री या बहन के विवाह के उत्तरदायित्व से मुक्त होता था। कुल कन्याओं को शिल्प या कला की शिक्षा देने की प्रथा नहीं थी क्योंकि उन्हें व्यापारादि की छूट नहीं थी उनके भरण पोषण का दायित्व पुरुषों पर था। कन्याओं को सिर्फ पतिकुल के योग्य सदाचरण की शिक्षा दे दी जाती थी।

बौद्ध युग में वैदिक संस्कृति में मान्य विवाह विषयक दृष्टिकोण में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। "बौद्धागमों में विवाह के सम्बन्ध में दो शब्द मिलते हैं -आवाह और विवाह।"[2] "लड़के के हेतु उत्तम

[1] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.11

[2] वही, पृ.42

कुल से शुभ नक्षत्र में लड़की ले आना आवाह, तथा लड़की को किसी लड़के के लिए उत्तम नक्षत्र में दे आना विवाह कहलाता था। जब लड़की लड़के के लिए पत्नी रूप में माँगी जाती थी तो उसे वारेय्य कहा जाता था।"[3] विवाह के सम्बन्ध में बौद्धागमों में न तो किसी रीति -रिवाज का वर्णन मिलता है और न तो किसी उत्सव विशेष का। "उस समय विवाह संपन्न कराने के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति(पुरोहितादि) का सहयोग नहीं लिया जाता था और न ही विवाहित दंपत्ति को आशीर्वाद दिया जाता था।"[4] इससे यह स्पष्ट होता है की बौद्धों के यहाँ विवाह धार्मिक कर्त्तव्य नहीं अपितु विशुद्ध पारिवारिक कृत्य था। धार्मिक महत्व समाप्त हो जाने से विवाह बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए अनिवार्य नहीं रहा। फलस्वरूप बौद्ध परिवारों में कतिपय कन्याओं ने भी विवाह न करने के निश्चय में सफलता प्राप्त की। जबकि आज के भारतीय समाज में विवाह को विभिन्न धार्मिक समुदायों में धार्मिक कृत्य की मान्यता मिली हुयी है। बौद्धकालीन समाज में मुख्यतः तीन प्रकार के विवाहों का प्रचलन था –

1. माता-पिता द्वारा विहित विवाह
2. क्रय-विक्रय विवाह
3. स्वयंवर विवाह

बौद्धकालीन समाज में नारियों के पुनर्विवाह का प्रचलन ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्गों में नहीं था जबकि श्रेष्ठि तथा निम्न जातियों में आंशिक रूप से था।

बौद्धकाल में कुलवधुएं पूर्णतया सास-ससुर के कठोर नियंत्रण में जीवनयापन करती थीं। यहाँ तक की पति के प्रव्रज्या लेते समय भी बिना सास- ससुर की आज्ञा के अपने पति से बात नहीं कर सकती थी;

[3] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.42
[4] वही, पृ.43

उसे रोक नहीं सकती थी। वह कोई भी सद्कर्म बिना सास-ससुर की आज्ञा के नहीं कर सकती थी। यहाँ तक की वह भिक्षु को दान भी नहीं दे सकती थी। "पुत्रवधु को प्रातः उठकर सास ससुर को प्रणाम कर उनके चरणों की रज को मस्तक पर धारण करना, उनके सोने के अनंतर सोना, उठने से पूर्व ही उठना, भृत्य के समान उनकी आज्ञाओं का पालन, उनके साथ मधुर भाषण और आचरण करना आवश्यक था।"[5] बौद्ध युग में गृह-पत्नी को धर्माचरण का अधिकार था। वह गृहस्थ जीवन में रहते हुए उपाशिका बन सकती थी। आगमकालीन समाज में पत्नी; पति की निजीसम्पत्ति के रूप में मानी जाती थी। पति; पत्नी के प्रति किसी भी प्रकार का व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र था। इसका कारण यह था की पत्नी को अपने पति के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार नहीं था। पति द्वारा पत्नी को छोड़ दिए जाने पर वह कुछ नहीं कर सकती थी; सिवाय विलाप के। पति सांसारिक जीवन से ऊबकर प्रव्रज्या लेने की इच्छा करता था तो इसकी सूचना मात्र पत्नी को देता था। "पति के लिए यह आवश्यक नहीं था की वह अपनी पत्नी से प्रव्रज्या की अनुमति प्राप्त करे।"[6] जबकि पत्नी को पति की अनुमति मिले बिना प्रवज्या नहीं दी जाती थी। "पति पत्नी को अन्य वस्तुओं की भाँति दान भी करता था। कभी कभी तो बलात्कार किये जाने पर भी पत्नी को मार डाला जाता था।"[7] क्योंकि दूसरे पुरुष द्वारा दूषित पत्नी रखना मनुष्य की सामजिक प्रतिष्ठा के लिए घातक था।

बौद्ध और जैन युग में विधवा नारी की स्थिति दयनीय नहीं थी। विधवा नारियाँ भी सधवाओं की तरह ही परिवार तथा समाज के सभी अधिकारों का उपभोग करती थीं। "जब महाप्रजापति गौतमी बुद्ध से पहली बार कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में मिलीं तो उस समय उन्होंने विधवा होते हुए भी न तो केशों को ही कटवाया था और न ही किसी विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों को ही धारण किया था। थावच्चा (स्थापत्य)

[5] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.79

[6] वही, पृ.100

[7] वही, पृ.100

ने पुत्र के विवाह जैसे कार्य में प्रमुख भाग लिया था।"[8] आगमों में सती प्रथा के प्रचलन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है तथा विधवाओं के पुनर्विवाह का भी प्रावधान नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं की बुद्धकालीन समाज पितृसत्तात्मक था। जहाँ बाल्यावस्था के बाद स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। विवाह का परिवार के स्वरूप से गहन सम्बन्ध है। "मानव विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप हमें विवाह के भी तीन मुख्य रूप मिलते हैं : जांगल युग में समूह विवाह , बर्बर युग में युग्म विवाह और सभ्यता के युग में एक विवाह उसके साथ व्यभिचार और वेश्यावृत्ति।"[9] बुद्धकालीन समाज में मुख्यतः एकविवाह का प्रचलन था जो आज भी है। इस प्रकार मानव सभ्यता के विकास में एकविवाह जैसी उच्च अवस्था तक हम पहुंचे हैं। भारत तथा दुनिया के तमाम देशों में औद्योगिक क्रांति के बाद संयुक्त परिवार प्रथा में तेजी से विघटन हुआ है तथा एकल परिवार की स्थापना हुयी है। आगे परिवार का क्या स्वरुप होगा इस पर मॉर्गन की टिप्पणी ध्यातव्य है ;जो एकविवाह परिवार के विकास को प्रगति मानते हैं -"जब यह तथ्य स्वीकार कर लिया जाता है की परिवार एक के बाद करके चार रूपों से गुजर चुका है और वह अपने पाँचवे रूप में है, तब फौरन यह सवाल उठता है की भविष्य में यह रूप स्थायी बना रहेगा। इस सवाल का सिर्फ यही जवाब दिया जा सकता है की जैसा कि अतीत में हुआ समाज की प्रगति के साथ साथ परिवार का रूप भी प्रगति करेगा और समाज के बदलने के साथ परिवार का रूप भी बदलेगा। यह सामाजिक व्यवस्था की उपज है और उसी की संस्कृति को प्रतिबिंबित करेगा। सभ्यता के प्रारंभ से लेकर अब तक एक विवाह परिवार में भारी सुधार हुआ है और आधुनिक काल में बहुत समझदारी भरा सुधार हुआ है। इसलिए कम से कम यह तो माना ही जा सकता है की उसमें अभी और सुधार हो सकता है और तबतक होता रहेगा जबतक स्त्री और पुरुष की समानता स्थापित नहीं

[8] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.120

[9] फ़्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ.82

होती। यदि सुदूर भविष्य में समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होता है तो आज के परिवार का कौन सा रूप उसका स्थान लेगा आज इसकी भविष्यवाणी करना असंभव है।"[10]

बौद्ध संघ और स्त्रियों की संवैधानिक स्थिति:-

चूँकि सैद्धांतिक रूप से गौतम बुद्ध स्त्री –पुरुष में कोई भेद नहीं मानते हैं परन्तु बौद्ध संघ स्थापित होने के पाँच वर्ष बाद तक संघ में पुरुष वर्ग का ही एकाधिकार रहा। स्त्रियों की संघ में कोई जगह नहीं थी। इन पाँच वर्षों में स्त्रियों की दशा और भी खराब हो गयी उसका कारण यह था की कभी भी अचानक पुरुष का संरक्षण खत्म हो सकता था। स्त्री के साथ साहचर्य जीवन बिताने वाला पुरुष कभी भी भिक्षु बन सकता था। वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही स्त्री का पति कब भिक्षु बन जायेगा इसकी आशंका स्त्री के मन में हमेशा बनी रहती थी।

महाप्रजापति गौतमी के संघ में प्रवेश प्राप्त कर भिक्षुणी बनने के अनुरोध को गौतम बुद्ध ने तीन बार टाल दिया। आनंद की मध्यस्थता से गौतमी सहित 500 भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश मिला परन्तु गौतम बुद्ध ने उस समय आशंका व्यक्त की भिक्षुणी संघ की स्थापना से बौद्ध धर्म की आयु आधी हो जाएगी। भिक्षुणी संघ के सन्दर्भ में यदि स्त्री-पुरुष के साहचर्य, उनकी सहज वृत्तियों तथा सामान्य इच्छाओं की बात करें तो क्या संघ ने इसका दमन नहीं किया ? भिक्षु या भिक्षुणी संघ में प्रवेश के पहले जो स्त्री पुरुष सहजीवन व्यतीत कर रहे थे; उन्हें संघ ने अलग कर दिया। आध्यात्मिक उन्नयन के नाम पर सभी इच्छाओं का शमन करने की शिक्षा देने लगा। बौद्ध संघ ने अपने नियमों विधानों के माध्यम से स्त्री पुरुष के साहचर्य को नकार दिया। जीवित प्राणियों में जीवन से बढ़कर कोई मूल्यवान चीज नहीं है। सभी प्राणी इसलिए हैं की उनमें जीवन है और इस जीवन को बचाने के लिए उनमें कुछ सहज वृत्तियाँ

[10] फ़ेडरिख़ एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ.90

होती हैं; जिनमें सबसे स्पष्ट खाने की इच्छा और कामेच्छा है। यह सभी जीवधारियों में पाई जाती है। मनुष्य उनमें सबसे उत्तम कोटि का जीव माना गया है। इसलिए उसका कर्त्तव्य बनता है जीवन को बचाए रखना, उसे प्रसारित करना और उसे बेहतर बनाना। इसमें सहयोग करती है खाद्य की इच्छा जिससे व्यक्ति जीवन सुरक्षित रहता है और दूसरी काम की इच्छा जो जीवन को प्रवाहमान बनाती है यहाँ जो सवाल खड़ा होता है वह यह है की स्त्रियों को पुरुषों से अलग रखकर बौद्ध संघ किस मॉडल को पेश कर रहा था ? ऐसे में स्त्री की आदिम आकांक्षा का क्या हुआ ? क्या उन्होंने अपनी स्त्री देह को बहुत सहजता से नकार दिया ? पुरुषों से अलग रहने पर स्त्रियों के भीतर यौन- कुंठा ने जन्म लिया। जब किसी भिक्षुणी ने किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित किये तो बौद्ध संघ ने उसके साथ वही व्यवहार क्यों नहीं किया जो एक भिक्षु के साथ करता है; जब भिक्षु यौन शुचिता के दायरे में घिरता था। बौद्ध संघ में भिक्षुओं के साथ उस प्रकार से अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं की जाती थी जिस प्रकार भिक्षुणियों के साथ होती थी। जिससे यह पता चलता है की धर्म की आड़ में स्त्री यौनिकता को नियंत्रित रखने के लिए बौद्ध धर्म में भी प्रयास किये गए। अर्थात् बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिए स्त्री को अपनी यौनिकता का शारीरिक और भावनात्मक पक्ष त्यागना ही होगा। स्त्री देह को नियंत्रित करने के लिए पितृसत्तात्मक बौद्ध संघ ने अपने नियम बनाए जो अत्यंत कड़े थे।

चूँकि भिक्षुणी संघ की स्थापना सिर्फ स्त्रियों के लिए की गयी थी। जिसे भिक्षु संघ यानी पुरुषों से दूर रखा गया। तब क्या यह संभव नहीं है की यौन आकांक्षा की तृप्ति के लिए स्त्रियाँ समलैंगिक यौन की ओर झुकी हों चूँकि थेरीगाथा से इस बात की पुष्टि नहीं होती है परन्तु मुगल कालीन जो हरम होते थे, वहाँ राजा के अलावा अन्य पुरुष का प्रवेश वर्जित रहता था। ऐसे में उन स्त्रियों के समलैंगिक होने के उदाहरण मिलते हैं, तब यह बिल्कुल संभव है बौद्ध संघ में भी समलैंगिकता रही होगी।

बौद्ध संघो में बाद के दिनों में अराजकता की स्थिति फैल गई । बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध संघ टूट कर कई भागों में विभक्त हो गया जिससे बज्रयान शाखा का विकास हुआ ,जहाँ स्त्रियों की स्थिति दयनीय हो गयी उन्हें भोग का एकमात्र साधन समझा जाने लगा और धीरे धीरे बौद्ध संघ से स्त्रियों का मोहभंग हो गया।

पितृसत्ता और थेरिओं की स्थिति:-

थेरीगाथा को स्त्री मुक्ति का प्रथम ऐतिहासिक दस्तावेज कहा गया; जो कि है भी। थेरीगाथा की भिक्षुणियों के मन में मुक्ति की चाह है। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के बाद जब वे अपने भिक्षुणी बनने से पहले के जीवन का विश्लेषण करती हैं तो अपनी मुक्ति को लेकर बहुत आह्लादपूर्ण उद्गार व्यक्त करती है-

"मैं सुमुक्त हो गई। अच्छी विमुक्त हो गई। तीन टेढ़ी चीजों से मैं भली विमुक्त हो गई। ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मैं अच्छी मुक्त हो गई। (किन्तु इससे भी बड़ी एक महान मुक्ति मुझे मिली) मैं आज जन्म मरण से ही मुक्त हो गई। मेरी भव रज्जु ही कट गई।"[11]– मुक्ति द्वितीय

पितृसत्ता के दबाव में जकड़ी हुई स्त्री ने जब ओखली छोड़ी, मूसल छोड़ा, धान कूटना छोड़ा, खाना बनाना छोड़ा, निर्लज्ज पति छोड़ा, कुबड़ा पति छोड़ा, घर छोड़ा, भाई बन्धु छोड़ा, रिश्तेदार छोड़े, दास और सेवक छोड़े, ग्राम छोड़ा, खेत छोड़े, सम्पत्ति छोड़ी, धन धान्य छोड़ा, प्रिय पुत्रों को छोड़ा, कन्या को छोड़ा, प्रिय पशुओं को छोड़ा, राग को छोड़ा, द्वेष को छोड़ा अर्थात् इन सब से मुक्त हुयी तो उसके सपने क्या थे ? इन सब चीजों को छोड़कर वह क्या पाना चाहती थी ? इसी के साथ लगे हुए सवाल ये भी हैं की यदि दास प्रथा मिटानी थी तो उस समाज में रहकर संघर्ष करना चाहिए था। बुरे पति से छुटकारा पाना था तो उसी समाज में स्त्री को ऐसी व्यवस्था देनी चाहिए थी की वह पुनर्विवाह कर सके। जाति प्रथा

[11] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.10

का उन्मूलन करने के लिए एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करना और ज्ञानार्जन करना ही पर्याप्त नहीं है उसके लिए उस समय अन्तर्जातीय विवाह की जरूरत थी; जो आज भी बनी हुयी है। ओखली, मूसल, खाना बनाना और धान कूटना आदि यदि यह काम किसी के दासत्व में किया जा रहा हो तो वहाँ से मुक्ति जरूरी है पर मनुष्य इसे अपने लिए क्यों छोड़ेगा ? यदि वह इसे छोड़ देगा तो खायेगा क्या ? राग, द्वेष, अविद्या और तृष्णा को सांसारिकता की शर्त पर छोड़ा जा रहा या आध्यात्मिकता की ? जो थेरियाँ परिवार तथा विवाह जैसी संस्था से मुक्ति की बात कर रही हैं वही फिर संघ में जाकर संस्थाबद्ध जीवन व्यतीत करने लगती हैं और वहाँ पितृसत्ता के दबावों को झेलने के लिए विवश हैं। भिक्षुणी संघ बनने के बाद भिक्षुणियों के लिए जो आठ नियम बनाये गए थे उनमें पहला ही नियम भिक्षुणियों की निम्न स्थिति को द्योतित करता है। यह नियम इस प्रकार था- सौ वर्ष की भी उपसम्पन्न भिक्षुणी को उसी दिन के उपसंपन्न भिक्षु के लिए अभिवादन प्रत्युत्थान (भिक्षु को देखकर खड़े हो जाना) अंजलि जोड़ना कुशल समाचार आदि पूछना करना चाहिए। इस नियम का निरूपण करके बुद्ध ने संघ की प्रभुसत्ता भिक्षुओं के हाथ में सौंप दी। जिस प्रकार समाज में स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक थीं वही स्थिति संघ में भी बनी रही। चूँकि उस समाज से आये भिक्षु वर्ग के मानस पर ऐसा अप्रत्याशित परिवर्तन हो भी नहीं सकता था कि वे स्त्रियों को एक ही झटके में समानता की अधिकारी समझ लें। बौद्धकालीन समाज में स्त्रियों को संपत्ति का कोई अधिकार नहीं था। दीघनिकाय के एक उद्धरण से इस बात की पुष्टि होती है – पुराने समय में एक ब्राह्मण की दो स्त्रियाँ थीं एक को दस या बारह वर्ष का लड़का था तथा दूसरी गर्भवती थी। इतने में वह ब्राह्मण मर गया तब उस लड़के ने अपनी माँ की सौत से यह कहा –जो यह धन- धान्य, सोना- चाँदी है सभी मेरा है तुम्हारा कुछ नहीं है। यह सब मेरे पिता का दाय है। उसके ऐसा कहने पर ब्राह्मणी बोली तबतक ठहरो जबतक मैं प्रसव कर लूँ। यदि वह लड़का होगा तो उसका भी आधा हिस्सा होगा यदि लड़की होगी तो उसे भी तुम्हें पालना होगा।[12] थेरीगाथा में ब्राह्मण पिता के प्रव्रजित होने के बाद यद्यपि

[12] डॉ. कोमल चन्द्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.26

सुंदरी की माता उससे कहती है हाथी, गौ और मणि कुण्डलों से भरे हुए इस घर को छोड़कर पिता ने प्रव्रज्या ग्रहण की है। सुंदरी इस समय यह सभी संपत्ति तेरी है। तू ही इसकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी है तू इसका उपभोग कर।[13]

उपर्युक्त पहले उद्धरण से स्पष्ट होता है की बौद्ध युग में माता- पिता की संपत्ति पर पुत्री का कोई अधिकार नहीं था। उसे केवल भरण पोषण करवाने मात्र का अधिकार था। पिता अपनी संपत्ति का उत्तराधिकार पुत्र को ही देता था। पुत्रहीन परिवार की संपत्ति पर अंततोगत्वा शासक लिच्छवियों का अधिकार हो जाता था। थेरीगाथा वाले उद्धरण से प्रथम दृष्टया यह लगता है कि 'सुंदरी' संपत्ति की उत्तराधिकारिणी है परन्तु प्रसंग देखने के बाद यह ज्ञात होता है की पुत्री को प्रव्रज्या से रोकने के लिए उसकी माँ ने उत्तराधिकार की बात कही। वस्तुतः माता- पिता की संपत्ति पर पुत्री के अधिकार के सम्बन्ध में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। इस प्रकार पुरुष पर अपनी आर्थिक निर्भरता की स्थिति में बुद्धकालीन स्त्रियाँ स्वावलंबी नहीं हो सकती थीं। आज पहले की अपेक्षा भारतीय समाज में स्त्रियों के भीतर आत्मनिर्भरता आयी है। आज भारतीय समाज में स्त्रियाँ अर्थोपार्जन कर रही हैं एवं स्वयं के निर्णय लेने में सक्षम हुयी हैं परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। पुरुष पर आर्थिक रूप से निर्भर रहने वाली स्त्रियों की संख्या आज भी बहुतायत है। चूँकि अर्थ ही व्यक्ति को वह अधिकार देता है जिसके द्वारा वह अपनी परियोजनाएं पूरी कर सके।

धर्म की आड़ में पितृसत्ता की भूमिका :-

धर्म को लेकर अनेक प्रकार की मिथ्या अवधारणाएं सदियों से प्रचलित रही हैं और एक अच्छा खासा वर्ग जो दुनिया भर में फैला हुआ है विवेक और तर्क को प्रश्रय न देकर विश्वास के बल पर इसका

[13] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ. 88

प्रचार प्रसार करता रहा है । धर्म अपने जन्म काल से ही मनुष्य को सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों, जातियों, उपजातियों में बांटने का कारक रहा है। धर्म ने हमेशा से स्त्री को हेय अन्य, गौण की नजर से देखा है। धर्म ने स्त्री और पुरुष को कभी समान दर्जा नहीं दिया। धर्म ने पितृसत्ता स्थापित होने में मदद की। धर्म और पितृसत्ता के गठजोड़ ने स्त्री को दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में तब्दील कर दिया है । पितृसत्ता यानी पुरुष का स्त्री पर प्रभुत्व । पितृसत्ता एक विचारधारा के रूप में काम करती है इसके पीछे फ्रांसीसी मनोविश्लेषक और संरचनावादी जैक लांका का तर्क है – "समाज की संस्कृति पर लिंग के प्रभाव का दबदबा है।"[14]

पितृसत्ता में परिवार की आर्थिक स्थिति यौन सम्बन्ध और सांस्कृतिक मामलों में पुरुष स्त्री पर हावी रहता है । स्त्री अपने घरेलू श्रम का कोई भुगतान नहीं कर पाती और इसी के बदले उसका जीवनयापन होता है। दुनिया के सभी धर्मों और पितृसत्ता के गठजोड़ में स्त्री की स्थिति की पड़ताल करना बहुत मुश्किल काम है । ऐसे में बौद्धकालीन धर्म और पितृसत्ता पर बात करने से पूर्व वैदिक और उत्तरवैदिक काल की स्त्री को जानना आवश्यक है –

वैदिक काल में कुछ सूक्तियों और ऋचाओं की रचना स्त्रियों ने की है जिसके आधार पर कुछ लोग बताते हैं कि वैदिक काल में नारी को उचित सम्मान मर्यादा दी जाती थी। परन्तु वैदिक काल में एक वर्ग विशेष में स्त्रियों को अपनी सुविधानुसार शिक्षित किया जाता था। उन्हें गुरुकुल में जाकर शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं था। "वैदिक काल में स्त्री से संतान के रूप में केवल पुत्र की ही इच्छा व्यक्त की गयी है।(10.85.45)"[15] इस एकमात्र उद्धरण की व्याख्या से समझा जा सकता है की यदि स्त्री को कहीं सम्मान दिया गया तो सिर्फ इसलिए की वह वंशवृद्धि कर सकती है। वह एक पुरुष को जन्म दे सकती है।

[14] सं. प्रो. कमला प्रसाद स्त्री मुक्ति का प्रश्न, लेख-अरुण प्रकाश, पृ.55

[15] भगवान सिंह, हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति, पृ.188

हमारा समाज आज भी इस अवधारणा से मुक्त नहीं हुआ है आज भी स्त्री को जन्म देते हुए स्त्री खुद को बेबस महसूस करती है। राजेश जोशी की यह कविता दृष्टव्य है-

"स्त्री को जन्म देकर उदास है एक स्त्री

लड़की को जन्म देकर काँप रही है एक स्त्री

लड़की को जन्म देकर जच्चा घर में सिसक रही है एक स्त्री

इतनी जटिल बना दी गयी उसकी दासता

कि स्त्री ही सबसे क्रूर है

स्त्री के बारे में।"[16]

उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति और दयनीय हो गई। "ऐतरेय ब्राह्मण उसी नारी को उत्तम समझता है जो अपने पति को संतुष्ट करती है। पुत्र संतान को जन्म देती है और पति से बढ़ चढ़कर कभी कुछ नहीं कहती (3/24/27/) यानी जो नारी पति को संतुष्ट नहीं कर सकती, पुत्र संतान को जन्म नहीं देती एवं पति से बढ़- चढ़कर बोलती है उसे अवश्य ही अधम कहा जाता रहा होगा। नारी उत्तम है या अधम यह पुरुष की संतुष्टि पर निर्भर करता था।"[17] वशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है "पिता रक्षति कौमारे पति रक्षति यौवने रक्षति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वान्त्रमर्हती (5/1 -2,2/1 ,3, 44, 45)।"[18] धर्म की आड़ लेकर स्त्री को पिता, पति, पुत्र के दासत्व में रहने को बाध्य किया गया।

[16] सं. प्रो. कमला प्रसाद स्त्री मुक्ति का प्रश्न, लेख-अरुण प्रकाश, पृ.67
[17] सं. डॉ. रणजीत, धर्म और बर्बरता, लेख-तस्लीमा नसरीन, पृ.101
[18] वही, पृ.101

बौद्धकालीन समाज में भी धर्म और पितृसत्ता ने स्त्री को पूर्णतया अपने शिकंजे में मुक्त नहीं किया यद्यपि सैद्धान्तिक स्तर पर गौतम बुद्ध स्त्री -पुरुष समानता की बात करते हैं। तथापि यत्र-तत्र गौतम बुद्ध अपने उपदेशों में बौद्ध संघ में पुरुषों के प्रभुत्व को बनाये रखने के पक्ष में खड़े होते दिखाई देते हैं। एक समय गौतम बुद्ध जेतवन में विहार में थे। उस समय कोसल नरेश प्रसेनजित की रानी मल्लिका ने पुत्री को प्रसव किया। राजा बुद्ध के पास बैठा उपदेश सुन रहा था। वहीं एक दूत ने इस सन्देश को राजा से कहा। राजा ने जब सुना मल्लिका ने पुत्री को जन्म दिया है, तब उसका मुख उदास हो गया। इसे देखकर तथागत ने राजा को समझाया और कहा की जो वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं उनकी जननी स्त्रियाँ ही हैं। वही स्त्रियाँ पति, श्वसुर एवं सास की सेवा भी करती हैं अतः इनसे कभी घृणा नहीं करनी चाहिए। गौतम बुद्ध कहते है कोई भी स्त्री अपने पति से पहचानी जाती है। इन उद्धरणों तथा भिक्षुणी संघ के नियमों पर ध्यान दें तो यह ज्ञात होता है की स्त्रियों को पुरुषों के समानांतर एवं उनके समकक्ष बराबरी का दर्जा बौद्ध धर्म में भी नहीं दिया जा सका फिर भी थेरीगाथा के माध्यम से हम देख चुके हैं की बुद्ध ने उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाया; जिसका स्त्री जीवन पर व्यापक असर हुआ। आम्बपाली थेरी के जीवन से ज्ञात होता है की किस प्रकार किसी स्त्री का सौंदर्य और उसका नृत्य कौशल उसके स्त्रीत्व और निजी जीवन के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। राज्य का आश्रय पाकर धर्म और पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने किसी स्त्री को पूरे समाज के लिए आमोद- प्रमोद की वस्तु बना दिया। यह व्यवस्था किसी स्त्री का निजत्व उससे छीन लेती है जिसमें व्यक्तिगत तौर पर उसका कोई दोष नहीं होता है। यह बौद्धकालीन अनेक राज्यों की कहानी है, जहाँ स्त्रियाँ गणिका जीवन व्यतीत करती थीं। यह एक प्रमुख कारण था जब आम्बपाली को बौद्धधर्म एवं भिक्षुणी संघ की शरण मिली तो उसने खुलकर स्त्री देह से विरक्ति के उद्गार व्यक्त किए।

आज यदि शिक्षा एवं अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर कुछ स्त्रियाँ धर्म और पितृसत्ता को नकार रही हैं ,उसमें भी धर्म की सत्ता पर उंगली उठाने से डरती हैं। वे इस वैज्ञानिक समय में भी चन्द्रमा

यानी उबड़ खाबड़ पत्थरों की चट्टान को पूजकर पति के स्वरूप एवं दीर्घायु जीवन की कामना कर रही हैं। वहीं दूसरी तरफ अशिक्षित और कम जागरूक स्त्रियाँ धर्म और पितृसत्ता दोनों की मार झेलने को अभिशप्त हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बौद्धकाल से पहले भारतीय इतिहास में नारी ने अपनी व्यथा को इतनी स्वतंत्रता के साथ प्रकट नहीं किया था। वास्तव में थेरीगाथा स्त्री मुक्ति को प्रकट करनेवाला प्रथम ग्रन्थ है। वर्तमान युग को कभी वैज्ञानिक युग तथा कभी मानव मुक्ति, व्यक्ति स्वातंत्र के युग के नाम से द्योतित किया जाता है। आज भी समाज में यह स्पष्ट्या देखा जा सकता है कि स्त्रियों के ऊपर कितने अत्याचार किये जा रहे हैं। आज की इन दर्दनाक और लज्जाजनक घटनाओं में नारी दासत्व ही निहित है। तब इस बात का आकलन करना कोई दुष्कर कार्य नहीं है कि बुद्धकाल में नारियों की क्या दुर्दशा रही होगी ? उस समय न तो नारी स्वातंत्र्य का प्रश्न था न ही मानवाधिकार का। ऐसे में थेरीगाथा का आधुनिक स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में पुराख्यान बेहद जरुरी प्रतीत होता है।

चतुर्थ अध्याय

थेरीगाथाओं के पुनर्पाठ की जरूरत

थेरीगाथा बुद्धकालीन भिक्षुणियों के जीवनानुभव की अभिव्यक्ति का संग्रह है । जिसमें 73 भिक्षुणियों के 522 पद्य गाथाएं संकलित हैं । इन गाथाओं के माद्ध्यम से बुद्धकालीन नारी जीवन की वैयक्तिक तथा सामाजिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है। थेरीगाथा में भिक्षुणियों ने अपने भिक्षुणी बनने से पूर्व तथा पश्चात जीवन के यथार्थ को बेबाकी से व्यक्त किया है। संघ में प्रवेश प्राप्ति के बाद किसी भी भिक्षुणी ने संघ के नियमों या बुद्ध के उपदेशों को लेकर सवाल खड़े नहीं किये हैं। वे संघ तथा गौतम बुद्ध के प्रति हमेशा श्रद्धानवत ही हैं । अतः संघ की आतंरिक खामियों के विषय में हमें थेरीगाथा से जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

परिवार, समाज और बौद्धकालीन स्त्री:-

परिवार साधारणतया पति, पत्नी और बच्चों के समूह को कहते हैं, किन्तु दुनिया के अधिकांश भागों में वह सम्मिलित वास वाले रक्त सम्बन्धियों का समूह है जिसमें विवाह और दत्तक प्रथा द्वारा स्वीकृत व्यक्ति भी सम्मिलित है । परिवार में संबंधो से मानसिक सुरक्षा, भौतिक सहायता, देखभाल, अपनत्व, हैसियत, वैधता, और सामाजिक पहचान मिलती है। इसके साथ ही महिलाएं चाहे वे जवान हों या बूढ़ी उनके अनुभव बताते हैं की परिवार, घरबार और समाज कुल मिलाकर गैरबराबरी, दबाव, वर्जना, उत्पीड़न और हिंसा के दायरे रहे हैं और आज भी हैं। जिसमें स्त्री- पुरुष भेद, जेंडर तथा उम्र द्वारा निर्धारित हित और सत्ता सम्बन्ध अन्तर्निहित होते हैं।

बुद्धकालीन परिवार में स्त्रियों की स्थिति जानने के लिए तत्कालीन समाज में स्त्री के विभिन्न रूपों यथा पुत्री, पत्नी ,माता आदि के विषय में जानना जरूरी है। "श्रमण संस्कृति के विकास के साथ पुत्र और पुत्री के प्रति क्रमशः स्नेह और घृणासूचक भाव समाप्त होने लगा। आगमों में पुत्र को किसी भी प्रकार का धार्मिक महत्त्व नहीं दिया गया है। उनमें ऋण सिद्धांत के अस्तित्व का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है की दोनों (बौद्ध और जैन) ही सम्प्रदायों में पितृऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्र प्राप्ति आवश्यक है – इस बात की उपेक्षा की गई है। बौद्ध और जैन आगमों में कन्या के विवाह के विषय में आग्रह सूचक नियमों का सर्वथा अभाव है। फलस्वरूप विवाह के पूर्व यह आवश्यक हो गया की पिता पुत्री से उसके विवाह की स्वीकृति ले।"[1] पुत्री; पिता या किसी अन्य व्यक्ति से प्राप्त विवाह सम्बन्धी प्रस्ताव अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र थी। कई बार विवाह न करके वे स्वेच्छा से भिक्षुणी बन जाती थीं। बुद्धकाल में पुत्री का महत्त्व बाल्यावस्था में पुत्र के समान ही था। थेरीगाथा में उब्बीरी अपनी पुत्री जीवंती के लिए अत्यंत शोकाकुल होकर श्मशान में जाकर रोया करती है। बुद्धकाल में कुल-जाति का बंधन विद्यमान था। कुलीन परिवार के व्यक्ति अपने पुत्र के लिए समान कुल की कन्या को लाना पसंद करते थे। पुत्री परिवार में अत्यंत स्नेह प्राप्त करती थी। प्रव्रज्या लेने के लिए इच्छुक व्यक्ति पहले अपनी संरक्षित पुत्री या बहन के विवाह के उत्तरदायित्व से मुक्त होता था। कुल कन्याओं को शिल्प या कला की शिक्षा देने की प्रथा नहीं थी क्योंकि उन्हें व्यापारादि की छूट नहीं थी उनके भरण पोषण का दायित्व पुरुषों पर था। कन्याओं को सिर्फ पतिकुल के योग्य सदाचरण की शिक्षा दे दी जाती थी।

बौद्ध युग में वैदिक संस्कृति में मान्य विवाह विषयक दृष्टिकोण में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। "बौद्धागमों में विवाह के सम्बन्ध में दो शब्द मिलते हैं -आवाह और विवाह।"[2] "लड़के के हेतु उत्तम

[1] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.11

[2] वही, पृ.42

कुल से शुभ नक्षत्र में लड़की ले आना आवाह, तथा लड़की को किसी लड़के के लिए उत्तम नक्षत्र में दे आना विवाह कहलाता था। जब लड़की लड़के के लिए पत्नी रूप में माँगी जाती थी तो उसे वारेय्य कहा जाता था।"[3] विवाह के सम्बन्ध में बौद्धागमों में न तो किसी रीति -रिवाज का वर्णन मिलता है और न तो किसी उत्सव विशेष का। "उस समय विवाह संपन्न कराने के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति(पुरोहितादि) का सहयोग नहीं लिया जाता था और न ही विवाहित दंपत्ति को आशीर्वाद दिया जाता था।"[4] इससे यह स्पष्ट होता है की बौद्धों के यहाँ विवाह धार्मिक कर्त्तव्य नहीं अपितु विशुद्ध पारिवारिक कृत्य था। धार्मिक महत्व समाप्त हो जाने से विवाह बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए अनिवार्य नहीं रहा। फलस्वरूप बौद्ध परिवारों में कतिपय कन्याओं ने भी विवाह न करने के निश्चय में सफलता प्राप्त की। जबकि आज के भारतीय समाज में विवाह को विभिन्न धार्मिक समुदायों में धार्मिक कृत्य की मान्यता मिली हुयी है। बौद्धकालीन समाज में मुख्यतः तीन प्रकार के विवाहों का प्रचलन था –

1. माता-पिता द्वारा विहित विवाह
2. क्रय-विक्रय विवाह
3. स्वयंवर विवाह

बौद्धकालीन समाज में नारियों के पुनर्विवाह का प्रचलन ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्गों में नहीं था जबकि श्रेष्ठि तथा निम्न जातियों में आंशिक रूप से था।

बौद्धकाल में कुलवधुएं पूर्णतया सास-ससुर के कठोर नियंत्रण में जीवनयापन करती थीं। यहाँ तक की पति के प्रव्रज्या लेते समय भी बिना सास- ससुर की आज्ञा के अपने पति से बात नहीं कर सकती थी;

[3] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.42

[4] वही, पृ.43

उसे रोक नहीं सकती थी। वह कोई भी सद्कर्म बिना सास-ससुर की आज्ञा के नहीं कर सकती थी। यहाँ तक की वह भिक्षु को दान भी नहीं दे सकती थी। "पुत्रवधु को प्रातः उठकर सास ससुर को प्रणाम कर उनके चरणों की रज को मस्तक पर धारण करना, उनके सोने के अनंतर सोना, उठने से पूर्व ही उठना, भृत्य के समान उनकी आज्ञाओं का पालन, उनके साथ मधुर भाषण और आचरण करना आवश्यक था।"[5] बौद्ध युग में गृह-पत्नी को धर्माचरण का अधिकार था। वह गृहस्थ जीवन में रहते हुए उपाशिका बन सकती थी। आगमकालीन समाज में पत्नी; पति की निजीसम्पत्ति के रूप में मानी जाती थी। पति; पत्नी के प्रति किसी भी प्रकार का व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र था। इसका कारण यह था की पत्नी को अपने पति के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार नहीं था। पति द्वारा पत्नी को छोड़ दिए जाने पर वह कुछ नहीं कर सकती थी; सिवाय विलाप के। पति सांसारिक जीवन से ऊबकर प्रव्रज्या लेने की इच्छा करता था तो इसकी सूचना मात्र पत्नी को देता था। "पति के लिए यह आवश्यक नहीं था की वह अपनी पत्नी से प्रव्रज्या की अनुमति प्राप्त करे।"[6] जबकि पत्नी को पति की अनुमति मिले बिना प्रवज्या नहीं दी जाती थी। "पति पत्नी को अन्य वस्तुओं की भाँति दान भी करता था। कभी कभी तो बलात्कार किये जाने पर भी पत्नी को मार डाला जाता था।"[7] क्योंकि दूसरे पुरुष द्वारा दूषित पत्नी रखना मनुष्य की सामजिक प्रतिष्ठा के लिए घातक था।

बौद्ध और जैन युग में विधवा नारी की स्थिति दयनीय नहीं थी। विधवा नारियाँ भी सधवाओं की तरह ही परिवार तथा समाज के सभी अधिकारों का उपभोग करती थीं। "जब महाप्रजापति गौतमी बुद्ध से पहली बार कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में मिलीं तो उस समय उन्होंने विधवा होते हुए भी न तो केशों को ही कटवाया था और न ही किसी विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों को ही धारण किया था। थावच्चा (स्थापत्य)

[5] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.79
[6] वही, पृ.100
[7] वही, पृ.100

ने पुत्र के विवाह जैसे कार्य में प्रमुख भाग लिया था।"[8] आगमों में सती प्रथा के प्रचलन का कोई उल्लेख नहीं मिलता है तथा विधवाओं के पुनर्विवाह का भी प्रावधान नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं की बुद्धकालीन समाज पितृसत्तात्मक था। जहाँ बाल्यावस्था के बाद स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। विवाह का परिवार के स्वरूप से गहन सम्बन्ध है। "मानव विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप हमें विवाह के भी तीन मुख्य रूप मिलते हैं : जांगल युग में समूह विवाह , बर्बर युग में युग्म विवाह और सभ्यता के युग में एक विवाह उसके साथ व्यभिचार और वेश्यावृत्ति।"[9] बुद्धकालीन समाज में मुख्यतः एकविवाह का प्रचलन था जो आज भी है। इस प्रकार मानव सभ्यता के विकास में एकविवाह जैसी उच्च अवस्था तक हम पहुंचे हैं। भारत तथा दुनिया के तमाम देशों में औद्योगिक क्रांति के बाद संयुक्त परिवार प्रथा में तेजी से विघटन हुआ है तथा एकल परिवार की स्थापना हुयी है। आगे परिवार का क्या स्वरुप होगा इस पर मॉर्गन की टिप्पणी ध्यातव्य है ;जो एकविवाह परिवार के विकास को प्रगति मानते हैं -"जब यह तथ्य स्वीकार कर लिया जाता है की परिवार एक के बाद करके चार रूपों से गुजर चुका है और वह अपने पाँचवे रूप में है, तब फौरन यह सवाल उठता है की भविष्य में यह रूप स्थायी बना रहेगा। इस सवाल का सिर्फ यही जवाब दिया जा सकता है की जैसा कि अतीत में हुआ समाज की प्रगति के साथ साथ परिवार का रूप भी प्रगति करेगा और समाज के बदलने के साथ परिवार का रूप भी बदलेगा। यह सामाजिक व्यवस्था की उपज है और उसी की संस्कृति को प्रतिबिंबित करेगा। सभ्यता के प्रारंभ से लेकर अब तक एक विवाह परिवार में भारी सुधार हुआ है और आधुनिक काल में बहुत समझदारी भरा सुधार हुआ है। इसलिए कम से कम यह तो माना ही जा सकता है की उसमें अभी और सुधार हो सकता है और तबतक होता रहेगा जबतक स्त्री और पुरुष की समानता स्थापित नहीं

[8] डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.120

[9] फ़्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ.82

होती। यदि सुदूर भविष्य में समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होता है तो आज के परिवार का कौन सा रूप उसका स्थान लेगा आज इसकी भविष्यवाणी करना असंभव है।"[10]

बौद्ध संघ और स्त्रियों की संवैधानिक स्थिति:-

चूँकि सैद्धांतिक रूप से गौतम बुद्ध स्त्री –पुरुष में कोई भेद नहीं मानते हैं परन्तु बौद्ध संघ स्थापित होने के पाँच वर्ष बाद तक संघ में पुरुष वर्ग का ही एकाधिकार रहा। स्त्रियों की संघ में कोई जगह नहीं थी। इन पाँच वर्षों में स्त्रियों की दशा और भी खराब हो गयी उसका कारण यह था की कभी भी अचानक पुरुष का संरक्षण खत्म हो सकता था। स्त्री के साथ साहचर्य जीवन बिताने वाला पुरुष कभी भी भिक्षु बन सकता था। वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही स्त्री का पति कब भिक्षु बन जायेगा इसकी आशंका स्त्री के मन में हमेशा बनी रहती थी।

महाप्रजापति गौतमी के संघ में प्रवेश प्राप्त कर भिक्षुणी बनने के अनुरोध को गौतम बुद्ध ने तीन बार टाल दिया। आनंद की मध्यस्थता से गौतमी सहित 500 भिक्षुणियों को संघ में प्रवेश मिला परन्तु गौतम बुद्ध ने उस समय आशंका व्यक्त की भिक्षुणी संघ की स्थापना से बौद्ध धर्म की आयु आधी हो जाएगी। भिक्षुणी संघ के सन्दर्भ में यदि स्त्री-पुरुष के साहचर्य, उनकी सहज वृत्तियों तथा सामान्य इच्छाओं की बात करें तो क्या संघ ने इसका दमन नहीं किया ? भिक्षु या भिक्षुणी संघ में प्रवेश के पहले जो स्त्री पुरुष सहजीवन व्यतीत कर रहे थे; उन्हें संघ ने अलग कर दिया। आध्यात्मिक उन्नयन के नाम पर सभी इच्छाओं का शमन करने की शिक्षा देने लगा। बौद्ध संघ ने अपने नियमों विधानों के माध्यम से स्त्री पुरुष के साहचर्य को नकार दिया। जीवित प्राणियों में जीवन से बढ़कर कोई मूल्यवान चीज नहीं है। सभी प्राणी इसलिए हैं की उनमें जीवन है और इस जीवन को बचाने के लिए उनमें कुछ सहज वृत्तियाँ

[10] फ़ेडरिख़ एंगेल्स, परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ.90

होती हैं; जिनमें सबसे स्पष्ट खाने की इच्छा और कामेच्छा है। यह सभी जीवधारियों में पाई जाती है। मनुष्य उनमें सबसे उत्तम कोटि का जीव माना गया है। इसलिए उसका कर्त्तव्य बनता है जीवन को बचाए रखना, उसे प्रसारित करना और उसे बेहतर बनाना। इसमें सहयोग करती है खाद्य की इच्छा जिससे व्यक्ति जीवन सुरक्षित रहता है और दूसरी काम की इच्छा जो जीवन को प्रवाहमान बनाती है यहाँ जो सवाल खड़ा होता है वह यह है की स्त्रियों को पुरुषों से अलग रखकर बौद्ध संघ किस मॉडल को पेश कर रहा था ? ऐसे में स्त्री की आदिम आकांक्षा का क्या हुआ ? क्या उन्होंने अपनी स्त्री देह को बहुत सहजता से नकार दिया ? पुरुषों से अलग रहने पर स्त्रियों के भीतर यौन- कुंठा ने जन्म लिया। जब किसी भिक्षुणी ने किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित किये तो बौद्ध संघ ने उसके साथ वही व्यवहार क्यों नहीं किया जो एक भिक्षु के साथ करता है; जब भिक्षु यौन शुचिता के दायरे में घिरता था। बौद्ध संघ में भिक्षुओं के साथ उस प्रकार से अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं की जाती थी जिस प्रकार भिक्षुणियों के साथ होती थी। जिससे यह पता चलता है की धर्म की आड़ में स्त्री यौनिकता को नियंत्रित रखने के लिए बौद्ध धर्म में भी प्रयास किये गए। अर्थात् बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के लिए स्त्री को अपनी यौनिकता का शारीरिक और भावनात्मक पक्ष त्यागना ही होगा। स्त्री देह को नियंत्रित करने के लिए पितृसत्तात्मक बौद्ध संघ ने अपने नियम बनाए जो अत्यंत कड़े थे।

चूँकि भिक्षुणी संघ की स्थापना सिर्फ स्त्रियों के लिए की गयी थी। जिसे भिक्षु संघ यानी पुरुषों से दूर रखा गया। तब क्या यह संभव नहीं है की यौन आकांक्षा की तृप्ति के लिए स्त्रियाँ समलैंगिक यौन की ओर झुकी हों चूँकि थेरीगाथा से इस बात की पुष्टि नहीं होती है परन्तु मुगल कालीन जो हरम होते थे, वहाँ राजा के अलावा अन्य पुरुष का प्रवेश वर्जित रहता था। ऐसे में उन स्त्रियों के समलैंगिक होने के उदाहरण मिलते हैं, तब यह बिल्कुल संभव है बौद्ध संघ में भी समलैंगिकता रही होगी।

बौद्ध संघो में बाद के दिनों में अराजकता की स्थिति फैल गई । बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध संघ टूट कर कई भागों में विभक्त हो गया जिससे बज्रयान शाखा का विकास हुआ ,जहाँ स्त्रियों की स्थिति दयनीय हो गयी उन्हें भोग का एकमात्र साधन समझा जाने लगा और धीरे धीरे बौद्ध संघ से स्त्रियों का मोहभंग हो गया।

पितृसत्ता और थेरियों की स्थिति:-

थेरीगाथा को स्त्री मुक्ति का प्रथम ऐतिहासिक दस्तावेज कहा गया; जो कि है भी। थेरीगाथा की भिक्षुणियों के मन में मुक्ति की चाह है। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने के बाद जब वे अपने भिक्षुणी बनने से पहले के जीवन का विश्लेषण करती हैं तो अपनी मुक्ति को लेकर बहुत आह्लादपूर्ण उद्गार व्यक्त करती है-

"मैं सुमुक्त हो गई। अच्छी विमुक्त हो गई। तीन टेढ़ी चीजों से मैं भली विमुक्त हो गई। ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मैं अच्छी मुक्त हो गई। (किन्तु इससे भी बड़ी एक महान मुक्ति मुझे मिली) मैं आज जन्म मरण से ही मुक्त हो गई। मेरी भव रज्जु ही कट गई।"[11]– मुक्ति द्वितीय

पितृसत्ता के दबाव में जकड़ी हुई स्त्री ने जब ओखली छोड़ी, मूसल छोड़ा, धान कूटना छोड़ा, खाना बनाना छोड़ा, निर्लज्ज पति छोड़ा, कुबड़ा पति छोड़ा, घर छोड़ा, भाई बन्धु छोड़ा, रिश्तेदार छोड़े, दास और सेवक छोड़े, ग्राम छोड़ा, खेत छोड़े, सम्पत्ति छोड़ी, धन धान्य छोड़ा, प्रिय पुत्रों को छोड़ा, कन्या को छोड़ा, प्रिय पशुओं को छोड़ा, राग को छोड़ा, द्वेष को छोड़ा अर्थात् इन सब से मुक्त हुयी तो उसके सपने क्या थे ? इन सब चीजों को छोड़कर वह क्या पाना चाहती थी ? इसी के साथ लगे हुए सवाल ये भी हैं की यदि दास प्रथा मिटानी थी तो उस समाज में रहकर संघर्ष करना चाहिए था। बुरे पति से छुटकारा पाना था तो उसी समाज में स्त्री को ऐसी व्यवस्था देनी चाहिए थी की वह पुनर्विवाह कर सके। जाति प्रथा

[11] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ.10

का उन्मूलन करने के लिए एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करना और ज्ञानार्जन करना ही पर्याप्त नहीं है उसके लिए उस समय अन्तर्जातीय विवाह की जरूरत थी; जो आज भी बनी हुयी है। ओखली, मूसल, खाना बनाना और धान कूटना आदि यदि यह काम किसी के दासत्व में किया जा रहा हो तो वहाँ से मुक्ति जरूरी है पर मनुष्य इसे अपने लिए क्यों छोड़ेगा ? यदि वह इसे छोड़ देगा तो खायेगा क्या ? राग, द्वेष, अविद्या और तृष्णा को सांसारिकता की शर्त पर छोड़ा जा रहा या आध्यात्मिकता की ? जो थेरियाँ परिवार तथा विवाह जैसी संस्था से मुक्ति की बात कर रही हैं वही फिर संघ में जाकर संस्थाबद्ध जीवन व्यतीत करने लगती हैं और वहाँ पितृसत्ता के दबावों को झेलने के लिए विवश हैं। भिक्षुणी संघ बनने के बाद भिक्षुणियों के लिए जो आठ नियम बनाये गए थे उनमें पहला ही नियम भिक्षुणियों की निम्न स्थिति को द्योतित करता है। यह नियम इस प्रकार था- सौ वर्ष की भी उपसम्पन्न भिक्षुणी को उसी दिन के उपसंपन्न भिक्षु के लिए अभिवादन प्रत्युत्थान (भिक्षु को देखकर खड़े हो जाना) अंजलि जोड़ना कुशल समाचार आदि पूछना करना चाहिए। इस नियम का निरूपण करके बुद्ध ने संघ की प्रभुसत्ता भिक्षुओं के हाथ में सौंप दी। जिस प्रकार समाज में स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक थीं वही स्थिति संघ में भी बनी रही। चूँकि उस समाज से आये भिक्षु वर्ग के मानस पर ऐसा अप्रत्याशित परिवर्तन हो भी नहीं सकता था कि वे स्त्रियों को एक ही झटके में समानता की अधिकारी समझ लें। बौद्धकालीन समाज में स्त्रियों को संपत्ति का कोई अधिकार नहीं था। दीघनिकाय के एक उद्धरण से इस बात की पुष्टि होती है – पुराने समय में एक ब्राह्मण की दो स्त्रियाँ थीं एक को दस या बारह वर्ष का लड़का था तथा दूसरी गर्भवती थी। इतने में वह ब्राह्मण मर गया तब उस लड़के ने अपनी माँ की सौत से यह कहा –जो यह धन- धान्य, सोना- चाँदी है सभी मेरा है तुम्हारा कुछ नहीं है। यह सब मेरे पिता का दाय है। उसके ऐसा कहने पर ब्राह्मणी बोली तबतक ठहरो जबतक मैं प्रसव कर लूँ। यदि वह लड़का होगा तो उसका भी आधा हिस्सा होगा यदि लड़की होगी तो उसे भी तुम्हें पालना होगा।[12] थेरीगाथा में ब्राह्मण पिता के प्रव्रजित होने के बाद यद्यपि

[12] डॉ. कोमल चन्द्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी जीवन, पृ.26

सुंदरी की माता उससे कहती है हाथी, गौ और मणि कुण्डलों से भरे हुए इस घर को छोड़कर पिता ने प्रव्रज्या ग्रहण की है। सुंदरी इस समय यह सभी संपत्ति तेरी है। तू ही इसकी एकमात्र उत्तराधिकारिणी है तू इसका उपभोग कर।[13]

उपर्युक्त पहले उद्धरण से स्पष्ट होता है की बौद्ध युग में माता- पिता की संपत्ति पर पुत्री का कोई अधिकार नहीं था। उसे केवल भरण पोषण करवाने मात्र का अधिकार था। पिता अपनी संपत्ति का उत्तराधिकार पुत्र को ही देता था। पुत्रहीन परिवार की संपत्ति पर अंततोगत्वा शासक लिच्छवियों का अधिकार हो जाता था। थेरीगाथा वाले उद्धरण से प्रथम दृष्टया यह लगता है कि 'सुंदरी' संपत्ति की उत्तराधिकारिणी है परन्तु प्रसंग देखने के बाद यह ज्ञात होता है की पुत्री को प्रव्रज्या से रोकने के लिए उसकी माँ ने उत्तराधिकार की बात कही। वस्तुतः माता- पिता की संपत्ति पर पुत्री के अधिकार के सम्बन्ध में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। इस प्रकार पुरुष पर अपनी आर्थिक निर्भरता की स्थिति में बुद्धकालीन स्त्रियाँ स्वावलंबी नहीं हो सकती थीं। आज पहले की अपेक्षा भारतीय समाज में स्त्रियों के भीतर आत्मनिर्भरता आयी है। आज भारतीय समाज में स्त्रियाँ अर्थोपार्जन कर रही हैं एवं स्वयं के निर्णय लेने में सक्षम हुयी हैं परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। पुरुष पर आर्थिक रूप से निर्भर रहने वाली स्त्रियों की संख्या आज भी बहुतायत है। चूँकि अर्थ ही व्यक्ति को वह अधिकार देता है जिसके द्वारा वह अपनी परियोजनाएं पूरी कर सके।

धर्म की आड़ में पितृसत्ता की भूमिका और थेरियों के रचनात्मक प्रत्युत्तर :-

धर्म को लेकर अनेक प्रकार की मिथ्या अवधारणाएं सदियों से प्रचलित रही हैं और एक अच्छा खासा वर्ग जो दुनिया भर में फैला हुआ है विवेक और तर्क को प्रश्रय न देकर विश्वास के बल पर इसका

[13] भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, पृ. 88

प्रचार प्रसार करता रहा है। धर्म अपने जन्म काल से ही मनुष्य को सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों, जातियों, उपजातियों में बांटने का कारक रहा है। धर्म ने हमेशा से स्त्री को हेय अन्य, गौण की नजर से देखा है। धर्म ने स्त्री और पुरुष को कभी समान दर्जा नहीं दिया। धर्म ने पितृसत्ता स्थापित होने में मदद की। धर्म और पितृसत्ता के गठजोड़ ने स्त्री को दोयम दर्जे के नागरिक के रूप में तब्दील कर दिया है। पितृसत्ता यानी पुरुष का स्त्री पर प्रभुत्व। पितृसत्ता एक विचारधारा के रूप में काम करती है इसके पीछे फ्रांसीसी मनोविश्लेषक और संरचनावादी जैक लांका का तर्क है – "समाज की संस्कृति पर लिंग के प्रभाव का दबदबा है।"[14]

पितृसत्ता में परिवार की आर्थिक स्थिति यौन सम्बन्ध और सांस्कृतिक मामलों में पुरुष स्त्री पर हावी रहता है। स्त्री अपने घरेलू श्रम का कोई भुगतान नहीं कर पाती और इसी के बदले उसका जीवनयापन होता है। दुनिया के सभी धर्मों और पितृसत्ता के गठजोड़ में स्त्री की स्थिति की पड़ताल करना बहुत मुश्किल काम है। ऐसे में बौद्धकालीन धर्म और पितृसत्ता पर बात करने से पूर्व वैदिक और उत्तरवैदिक काल की स्त्री को जानना आवश्यक है –

वैदिक काल में कुछ सूक्तियों और ऋचाओं की रचना स्त्रियों ने की है जिसके आधार पर कुछ लोग बताते हैं कि वैदिक काल में नारी को उचित सम्मान मर्यादा दी जाती थी। परन्तु वैदिक काल में एक वर्ग विशेष में स्त्रियों को अपनी सुविधानुसार शिक्षित किया जाता था। उन्हें गुरुकुल में जाकर शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं था। "वैदिक काल में स्त्री से संतान के रूप में केवल पुत्र की ही इच्छा व्यक्त की गयी है।(10.85.45)"[15] इस एकमात्र उद्धरण की व्याख्या से समझा जा सकता है की यदि स्त्री को कहीं सम्मान दिया गया तो सिर्फ इसलिए की वह वंशवृद्धि कर सकती है। वह एक पुरुष को जन्म दे सकती है।

[14] सं. प्रो. कमला प्रसाद स्त्री मुक्ति का प्रश्न, लेख-अरुण प्रकाश, पृ.55

[15] भगवान सिंह, हड़प्पा सभ्यता और वैदिक संस्कृति, पृ.188

हमारा समाज आज भी इस अवधारणा से मुक्त नहीं हुआ है आज भी स्त्री को जन्म देते हुए स्त्री खुद को बेबस महसूस करती है। राजेश जोशी की यह कविता दृष्टव्य है-

"स्त्री को जन्म देकर उदास है एक स्त्री

लड़की को जन्म देकर काँप रही है एक स्त्री

लड़की को जन्म देकर जच्चा घर में सिसक रही है एक स्त्री

इतनी जटिल बना दी गयी उसकी दासता

कि स्त्री ही सबसे क्रूर है

स्त्री के बारे में।"[16]

उत्तरवैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति और दयनीय हो गई। "ऐतरेय ब्राह्मण उसी नारी को उत्तम समझता है जो अपने पति को संतुष्ट करती है। पुत्र संतान को जन्म देती है और पति से बढ़ चढ़कर कभी कुछ नहीं कहती (3/24/27/) यानी जो नारी पति को संतुष्ट नहीं कर सकती, पुत्र संतान को जन्म नहीं देती एवं पति से बढ़- चढ़कर बोलती है उसे अवश्य ही अधम कहा जाता रहा होगा। नारी उत्तम है या अधम यह पुरुष की संतुष्टि पर निर्भर करता था।"[17] वशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है "पिता रक्षति कौमारे पति रक्षति यौवने रक्षति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वान्त्रमर्हती (5/1 -2,2/1 ,3, 44, 45)।"[18] धर्म की आड़ लेकर स्त्री को पिता, पति, पुत्र के दासत्व में रहने को बाध्य किया गया।

[16] सं. प्रो. कमला प्रसाद स्त्री मुक्ति का प्रश्न, लेख-अरुण प्रकाश, पृ.67
[17] सं. डॉ. रणजीत, धर्म और बर्बरता, लेख-तस्लीमा नसरीन, पृ.101
[18] वही, पृ.101

बौद्धकालीन समाज में भी धर्म और पितृसत्ता ने स्त्री को पूर्णतया अपने शिकंजे में मुक्त नहीं किया यद्यपि सैद्धान्तिक स्तर पर गौतम बुद्ध स्त्री -पुरुष समानता की बात करते हैं। तथापि यत्र-तत्र गौतम बुद्ध अपने उपदेशों में बौद्ध संघ में पुरुषों के प्रभुत्व को बनाये रखने के पक्ष में खड़े होते दिखाई देते हैं। एक समय गौतम बुद्ध जेतवन में विहार में थे। उस समय कोसल नरेश प्रसेनजित की रानी मल्लिका ने पुत्री को प्रसव किया। राजा बुद्ध के पास बैठा उपदेश सुन रहा था। वहीं एक दूत ने इस सन्देश को राजा से कहा। राजा ने जब सुना मल्लिका ने पुत्री को जन्म दिया है, तब उसका मुख उदास हो गया। इसे देखकर तथागत ने राजा को समझाया और कहा की जो वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं उनकी जननी स्त्रियाँ ही हैं। वही स्त्रियाँ पति, श्वसुर एवं सास की सेवा भी करती हैं अतः इनसे कभी घृणा नहीं करनी चाहिए। गौतम बुद्ध कहते है कोई भी स्त्री अपने पति से पहचानी जाती है। इन उद्धरणों तथा भिक्षुणी संघ के नियमों पर ध्यान दें तो यह ज्ञात होता है की स्त्रियों को पुरुषों के समानांतर एवं उनके समकक्ष बराबरी का दर्जा बौद्ध धर्म में भी नहीं दिया जा सका फिर भी थेरीगाथा के माध्यम से हम देख चुके हैं की बुद्ध ने उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखाया; जिसका स्त्री जीवन पर व्यापक असर हुआ। आम्बपाली थेरी के जीवन से ज्ञात होता है की किस प्रकार किसी स्त्री का सौंदर्य और उसका नृत्य कौशल उसके स्त्रीत्व और निजी जीवन के लिए अभिशाप सिद्ध होता है। राज्य का आश्रय पाकर धर्म और पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने किसी स्त्री को पूरे समाज के लिए आमोद- प्रमोद की वस्तु बना दिया। यह व्यवस्था किसी स्त्री का निजत्व उससे छीन लेती है जिसमें व्यक्तिगत तौर पर उसका कोई दोष नहीं होता है। यह बौद्धकालीन अनेक राज्यों की कहानी है, जहाँ स्त्रियाँ गणिका जीवन व्यतीत करती थीं। यह एक प्रमुख कारण था जब आम्बपाली को बौद्धधर्म एवं भिक्षुणी संघ की शरण मिली तो उसने खुलकर स्त्री देह से विरक्ति के उद्गार व्यक्त किए।

आज यदि शिक्षा एवं अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर कुछ स्त्रियाँ धर्म और पितृसत्ता को नकार रही हैं ,उसमें भी धर्म की सत्ता पर उंगली उठाने से डरती हैं। वे इस वैज्ञानिक समय में भी चन्द्रमा

यानी उबड़ खाबड़ पत्थरों की चट्टान को पूजकर पति के स्वरूप एवं दीर्घायु जीवन की कामना कर रही हैं। वहीं दूसरी तरफ अशिक्षित और कम जागरूक स्त्रियाँ धर्म और पितृसत्ता दोनों की मार झेलने को अभिशप्त हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बौद्धकाल से पहले भारतीय इतिहास में नारी ने अपनी व्यथा को इतनी स्वतंत्रता के साथ प्रकट नहीं किया था। वास्तव में थेरीगाथा स्त्री मुक्ति को प्रकट करनेवाला प्रथम ग्रन्थ है। वर्तमान युग को कभी वैज्ञानिक युग तथा कभी मानव मुक्ति, व्यक्ति स्वातंत्र के युग के नाम से द्योतित किया जाता है। आज भी समाज में यह स्पष्ट्या देखा जा सकता है कि स्त्रियों के ऊपर कितने अत्याचार किये जा रहे हैं। आज की इन दर्दनाक और लज्जाजनक घटनाओं में नारी दासत्व ही निहित है। तब इस बात का आकलन करना कोई दुष्कर कार्य नहीं है कि बुद्धकाल में नारियों की क्या दुर्दशा रही होगी ? उस समय न तो नारी स्वातंत्र्य का प्रश्न था न ही मानवाधिकार का। ऐसे में थेरीगाथा का आधुनिक स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में पुराख्यान बेहद जरुरी प्रतीत होता है।

उपसंहार

छठी शताब्दी ई. पू. में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिनका मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर व्यापक प्रभाव पड़ा, उनमें से एक महत्त्वपूर्ण परिघटना थी बौद्ध धर्म एवं दर्शन का उदय। बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणवादी रूढ़ियों का विरोध कर कर्मवादी समाज की संरचना का पथ प्रशस्त किया। जिससे मनुष्य के भौतिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। इस लघु शोध-प्रबंध में विपुल बौद्ध साहित्य के एक ग्रन्थ थेरीगाथा के माध्यम से तत्कालीन स्त्री जीवन की स्थिति और उनकी आकांक्षाओं का गहन विश्लेषण किया गया है। बौद्धकालीन स्त्री जीवन पर विचार करने से पूर्व बौद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि, पालि भाषा के स्वरूप और योगदान तथा उस समय के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में हो रहे परिवर्तन एवं विकास को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। शोध के महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

गौतम बुद्ध ने सम्यक सम्बोधि प्राप्त करने के उपरांत अपने उपदेशों के प्रचारार्थ पालि भाषा का चुनाव किया। महात्मा बुद्ध भाषायी शुद्धता के आग्रह को तोड़ते हैं। वे जन साधारण द्वारा बोली जानेवाली भाषा को अभिव्यक्ति एवं आत्मिक उन्नयन का माध्यम बनाते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से पालि भाषा के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है। गौतम बुद्ध इसे भाषा प्रवाह के विकास की सहज प्रक्रिया मानते हैं। चूँकि संस्कृत साहित्य में ब्राह्मण वर्ग के वर्चस्व का समर्थन, सत्ताधारी उच्चवर्णियों के हित सम्बन्धों की रक्षा का भाव पाया जाता है जबकि पालि साहित्य में मानवीय मूल्यों के प्रति आदर एवं सम्मान का दृष्टिकोण है। इसलिए यह एक प्रमुख कारण है कि भारत के अतिरिक्त दुनियों के अन्य राष्ट्रों में भी पालि में साहित्य सर्जना हुई है।

गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बौद्ध संघ के नियम-विधानों को लेकर भिक्षुओं में कलह उत्पन्न हुई, जिसके निवारण हेतु संङ्गीतिओं का आयोजन किया गया। जहाँ कंठस्थ बौद्ध उपदेशों को लिपिबद्ध किया गया जिसके फलस्वरूप बौद्ध साहित्य का जन्म हुआ। जिससे कुछ समय तक बौद्ध संघ की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगा परन्तु यह चिरस्थायी नहीं रह सका, कालांतर में सम्राट अशोक के पूर्व ही विभिन्न मतान्तरों के कारण बौद्ध संघ अनेक संप्रदायों-थेरवादी, महासंघिक, महिशासक, वज्जिपुत्तक में विभक्त हो गया। गौतम बुद्ध के 'मानवीय स्वरूप' को महिमामंडित करने एवं उन्हें देवतुल्य सिद्ध करने की कोशिशें होने लगीं।

बौद्ध धर्म के विकास के साथ मानव का भौतिक जीवन भी प्रभावित हुआ। ग्राम और नगर दोनों का विकास हुआ। जिसमें विभिन्न पेशे से सम्बन्धित व्यक्ति एक साथ रहते थे परन्तु सार्थवाह-

सजातीय, व्यावसायिक एवं ब्राह्मणों के अलग-अलग ग्राम थे। हड़प्पा की नगरीय संस्कृति के बाद एक बार फिर छठी शताब्दी ई.पू. में ग्रामीण संस्कृति नगरीय संस्कृति का रूप ले रही थी। कौशाम्बी, चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत एवं वाराणसी नगर नदियों के किनारे बसे होने के कारण व्यावसायिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे।

व्यवसाय और वाणिज्य विकसित अवस्था में थे। सुत्तपिटक से जानकारी मिलती है कि जल और थल दोनों मार्गों से आंतरिक एवं वाह्य व्यापार होता था। लोहे के उपयोग से कृषि उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई। अहिंसा पर बल दिये जाने से पशुपालन समृद्ध हुआ जिससे सीधे-सीधे तौर पर कृषक समुदाय का हित जुड़ा था। कृषि के लिए वर्षा के अलावा कृत्रिम साधनों, कुओं-तालाबों एवं नदियों से भी सिंचाई की जाती थी। बौद्धकालीन समाज में अन्नाहार एवं मांसाहार दोनों का प्रचलन था। बौद्ध धर्म अहिंसावादी होते हुए भी मांस का सर्वथा निषेध नहीं करता, इसलिए भिक्षा स्वरूप प्राप्त किए गए मांस को खाने पर रोक नहीं थी।

थेरीगाथा के माध्यम से बौद्धकालीन स्त्री जीवन को प्रमुखता से उजागर करने एवं विश्लेषित करने की कोशिश की गयी है, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति का अभी तक का उपेक्षित अंग रहा है। बौद्धयुग आते-आते स्त्रियों की अवस्था अत्यधिक दयनीय हो गयी थी। उत्तरवैदिककाल में उन्हें धार्मिक कृत्य के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया और उन पर अनेक बंधन थोप दिये गये। इसी समय गौतम बुद्ध स्त्रियों के लिए धार्मिक समानाधिकार का सिद्धांत लेकर आये और नारी-उपेक्षा का जमकर विरोध भी किया। परन्तु वे पुरुष के समान्तर स्त्री के सैद्धांतिक समानाधिकार को प्रयोगात्मक रूप देने में अंशतः ही सफल हो पाये।

बौद्धकालीन पितृकुल में पालित कन्या की स्थिति ठीक थी परन्तु ज्यों ही वह विवाहोपरांत पतिकुल में जाती थी उसके साथ दासी के समान व्यवहार किया जाता था। वह परिवार में अन्या की स्थिति में जीवन व्यतीत करती थी। गौतम बुद्ध द्वारा स्थापित भिक्षुणी संघ के थेरियों से यह बात ज्ञात होती है कि पितृसत्ता एवं धर्म की जकड़न से भिक्षुणी संघ के रूप में मुक्ति का व्यापक मार्ग मिलने से थेरियों को भौतिक वस्तुएँ बांध नहीं पायीं। उन्होंने सांसारिक जीवन के रागपूर्ण वस्तुओं एवं व्यक्तियों को त्याग दिया। पुण्णिका थेरी के उद्गार से ज्ञात होता है कि बौद्धकाल में दासप्रथा भी प्रचलित थी। भारतीय संस्कृति में गणिका वर्ग बौद्धकाल की देन है जिसे अम्बपाली के उद्गार में देखा जाता है। स्त्री जाति के प्रत्येक शोषित वर्ग से थेरीगाथा में प्रतिरोध के स्वर दिखाई पड़ते हैं। जिस मुखरता, आशावाद, अपराजेय भाव से थेरियों ने तत्कालीन समाज की बंदिशों को तोड़ा, तब आज जब स्त्री के मानवीय सौन्दर्य की अनदेखी हो रहो हो, स्त्री की देह का बाजार द्वारा उपनिवेशीकरण किया जा रहा

हो, मीडिया स्त्री देह को सेक्स सिम्बल के तौर पर इस्तेमाल कर रह हो, यहाँ गौरतलब एवं चिंताजनक बात यह है कि मीडिया और बाजार के इस षडयंत्र को तमाम बार स्त्री इसे अपनी मुक्ति के साथ जोड़कर देखती है। आधुनिक स्त्री को अपनी जड़ों की ओर लौटना होगा। अपनी आदि परम्परा से ऊर्जा ग्रहण करते हुए स्त्री के श्रम एवं देह शोषण पर खड़ी व्यवस्थाओं को नकारना होगा। यही थेरीगाथाओं के पुनर्पाठ की सफलता होगी।

आधार एवं सहायक ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा (2010), गौतम बुद्ध सेंटर, दिल्ली
2. अनुवादक एवं सम्पादक डॉ. विमलकीर्ति, थेरगाथा (2011), सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली

सहायक ग्रंथ

1. भरत सिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास (2013), हिंदी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग
2. भिक्षु धर्मरक्षित, पालि साहित्य का इतिहास (2014), ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
3. राहुल सांकृत्यायन, पालि साहित्य का इतिहास (2011), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
4. इन्द्रचन्द्र शास्त्री, पालि भाषा और साहित्य (2010), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली
5. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, (2011), राजकमल प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली
6. रामशरण शर्मा, प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास (2011), हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली
7. डॉ. अखिलेश्वर मिश्र, बुद्धकालीन सामाजिक-आर्थिक जीवन (2006), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
8. भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथा, (2010), गौतम बुक सेंटर दिल्ली
9. डॉ. विमलकीर्ति, थेरीगाथा, (2011) सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
10. डॉ. विमलकीर्ति, थेरगाथा, (2011) सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
11. सं. एवं अनु.स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, थेरगाथापालि, थेरीगाथापालि, (2008) बौद्धभारती, वाराणसी
12. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, (2010), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ
13. डॉ. धर्मवीर , थेरीगाथा की स्त्रियाँ और डॉ. अम्बेडकर (2012), वाणी प्रकाशन, दिल्ली
14. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध संस्कृति (2011) सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली
15. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, (2011), सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली

16. आनन्द सिंह, प्राचीन भारतीय धर्म उद्भव एवं स्वरूप, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, नई दिल्ली
17. सं. पी. वी. बापट, बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, (2008), प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
18. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, (2001), सारांश प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, दिल्ली
19. डॉ. कोमलचंद्र जैन, बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर
20. अनामिका, टोकरी में दिगंत थेरीगाथा :2014, (2015), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
21. सुमन राजे, हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, (2015, प्रथम सं.2003) भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
22. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, (द सेकेण्ड सेक्स : सीमोन द बोउवार का हिंदी अनुवाद), (1998), हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली
23. फ़्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति (2006), अनुवाद :नरेश 'नदीम' प्रकाशन संस्करण, नई दिल्ली
24. मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्टालिन, माओ त्सेतुंग, महिलाएं और साम्यवाद (1997), अनु. एवं संपादक प्रदीप झा, समकालीन प्रकाशन, पटना